श्री स्वामी सत्य देव परिव्राजक

भाषा विभाग, पंजाब
पटियाला
1959

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

सत्यदेव परिव्राजक

लेख सूची

प्राक्कथन

साहित्य का जीवन में निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण स्थान है। राष्ट्र, देश, जाति तथा व्यक्ति की सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, विचार आदि सभी अंगों को एक अक्षुण्ण रूप में सँजो कर साहित्य जीवन का मार्ग-दर्शन करता है। साहित्य की समृद्धि व उन्नति राष्ट्र तथा व्यक्ति की उन्नति है। इसलिए सभी प्रकार से साहित्य को प्रफुल्लित और विकसित करना अत्यन्त जरूरी है। इसी मन्तव्य को ध्यान में रखते हुए पंजाब सरकार की ओर से कुछेक योजनाएं चल रही हैं जिन से साहित्य और साहित्यकारों को भली प्रकार से प्रोत्साहन मिलता है। पंजाब के एक सुविख्यात हिन्दी लेखक को हर साल सम्मानित करना उक्त योजनाओं का एक प्रमुख ध्येय है। इस योजना के ही अनुसरण में हिन्दी के लेखक श्री स्वामी **सत्यदेव** जी परिव्राजक को भाषा विभाग, पंजाब, सरकार की ओर से इस वर्ष सम्मानित किया जा रहा है।

श्री स्वामी जी ने अपने जीवन में हिन्दी साहित्य की निरन्तर और नितान्त सेवा की है, फलतः तीन दर्जन के लगभग अमूल्य पुस्तकें प्रदान की हैं। इन में राष्ट्रीयता, देशभक्ति, सच्चरित्रता, आरोग्य, आध्यात्मिकता, आत्म-परीक्षण, धार्मिकता और सत्यज्ञान जैसे गूढ़ और जीवनोपयोगी विषयों पर सारभूत सामग्री प्रस्तुत की है। इस प्रकार स्वामी जी की हिन्दी साहित्य को एक अमूल्य देन है जिनका सम्मान वस्तुतः हिन्दी साहित्य का सम्मान है। इस पुस्तिका में स्वामी जी के जीवन एवं उन के सत्साहित्य के विविध अंगों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास है। आशा है कि पाठक-वृन्द इस से लाभ उठायेगा।

रणजीत सिंह गिल्ल,
डायरैक्टर,
भाषा विभाग, पंजाब।

श्री जय चन्द्र विद्यालंकार

स्वामी सत्यदेव की राष्ट्र को देन

मेरी आंखें पहले पहल सन् १९०८ में खुलीं थीं—तब मैं दस साल का था। मेरा मतलब मन की आंखों से है। गुरुकुल कांगड़ी में अप्पाजी नामक मेरे एक महाराष्ट्र शिक्षक थे जिन्होंने पहले पहल मुझे जगाकर यह महान् तथ्य दिखाया कि हम लोग जो संख्या में तब तैंतीस करोड़ थे, मुट्ठीभर अंग्रेज़ों के गुलाम हैं, और कि अंग्रेज़ों ने हममें से ही फ़ौज और अमले भरती कर उन के द्वारा हमें बांध रक्खा है। उस दिन से मेरे जीवन का कोई दिन नहीं गया जबकि मैंने अपने देश के इस प्रश्न पर विचार न किया हो। उस दिन से मैं प्रकाश की खोज में रहा।

उस खोज के पहले बरसों में जिन स्रोतों से मुझे प्रकाश मिला उनकी याद मेरे मन में आज भी ताज़ा है। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर का "निबन्धमालादर्श," जिसका तभी हिन्दी अनुवाद हुआ था, मैंने पढ़ डाला। सखाराम गणेश देडस्कर की "देशेरकथा" तभी हिन्दी में रूपान्तरित हुई थी और वह जब्त थी, पर हमें पढ़ने को मिल गई और हमने अथ से इति तक छान डाली। माधव राव सप्रे तब "हिन्दी केसरी" निकालते थे और बाबूराव विष्णु पराडकर कलकत्ते से "भारत-मित्र" का सम्पादन करते थे। ये दोनों हमें प्रति सप्ताह नई रोशनी देते थे "भारतमित्र" का तो कोई भी अंक मैं पढ़ने से चूकता न था, और बाद में जब बनारस में पराडकर जी से परिचय का सौभाग्य हुआ तब वे यह देखकर चकित हुए थे कि मैं उनका कैसा सावधान विद्यार्थी रहा हूं। १९१० में सुन्दरलाल जी ने प्रयाग से 'कर्मयोगी' निकाला। मैं उसका भी वैसा ही सावधान पाठक बन गया और १९२७ में जब प्रयाग में उनसे मिला और 'कर्मयोगी' के प्रबन्धक स्व० नित्यानन्द चटर्जी ने मुझे वह कोठरी दिखाई जिसमें चटाई पर बैठकर और वह डैस्क दिखाई

जिसपर कागज़ रखकर सुन्दरलाल जी लेख लिखा करते थे तब मैं घड़ी भर उन्हें निहारता सोचता रहा कि यहीं से उठी प्रेरणा मेरे दिमाग को चलाया करती थी। इस बीच गुरुकुल के अपने आचार्य महात्मा मुंशीराम जी और अप्पाजी जैसे और अध्यापकों से जो प्रेरणा मिलती रही उसकी तो चर्चा की आवश्यकता नहीं।

इस वातावरण में सन् १९११ में श्री सत्यदेव चमकते सितारे की तरह प्रकट हुए। वे तभी अमरीका से छः बरस के प्रवास के बाद लौटे थे। उनका नाम पहले "सरस्वती" में प्रकाशित कुछ लेखों पर भी हम देखा करते थे, पर इधर अपने अमरीका के प्रवास और अनुभवों के बारे में उन्होंने जो पोथियां निकालनी शुरू कीं उनमें विशेष आकर्षण था। उनकी भाषा में सीधापन ताज़गी और ज़ोर था, उनके विचारों में स्वाधीनता और मनुष्यता की फूंक थी। उनके वाक्य होते थे मानो

सतसैया के दोहरे जिमि नाविक के तीर
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर

१९११ में मैं ने और मेरे साथियों ने उनका "अमरीका-दिग्दर्शन" पढ़ा। उसके प्रत्येक पृष्ठ में स्वावलम्ब स्वतन्त्रता और पराक्रम का सन्देश था। १९१२ में उनका "मनुष्य के अधिकार" हमें और ऊपर उठाता हुआ लगा।

इस बीच हम यह भी सुनते कि किस प्रकार वे स्थान स्थान पर जाकर व्याख्यान देते और उनकी पोथियां हाथों हाथ बिक जातीं। हमें इन समाचारों से खुशी होती, उत्साह मिलता क्योंकि हम यह देखते कि उनका जगाने वाला सन्देश जनता तक पहुँच रहा है। इस प्रसंग में एक बार यह सुना कि लाहौर के अधिकारियों ने जब सत्यदेव जी की पुकार विद्यार्थियों तक पहुँचने में बाधा डाली, तब सत्यदेव जी ने विद्यार्थियों को रावी-तट पर इकट्ठे होने को कहा और उनके वहां जमा होने पर एक पेड़ पर चढ़कर उन्हें अपनी बात सुना दी। ऐसी घटनाओं से यह प्रकट था कि उनसे जो प्रेरणा हम गुरुकुलवासी तरुणों को मिल रही थी वही उत्तर भारत के हज़ारों युवकों युवतियों तक भी पहुँच रही थी। इसी से १९११—२० के उनके जागरण-सन्देश को मैं उनकी राष्ट्र को देन मानता रहा हूँ। पंजाब और हिन्दी प्रदेशों के हज़ारों युवकों को उस सन्देश ने ऐसे बहुत चेताया था जब कि चेताने का जतन करना ही देश की बहुत बड़ी सेवा थी।

तभी कुछ महीनों के लिए सत्यदेव जी दयानन्द स्कूल देहरादून में मुख्याध्यापक हो गये थे, और हम गुरुकुल के छात्रों की टोली वहां उनसे मिली थी। मुझे याद पड़ता है यह बात 'सत्यनिबन्धावली' के प्रकाशन (१९१४) के पहले की है। उन दिनों वे धोती कुड़ता पहन कर सिर पर हैट लगाते थे। यह फैशन उनसे पहले श्री महेशचरणसिंह ने चलाया था, जो दुनिया की यात्रा से लौट गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक का कार्य करने लगे थे। लखनऊ, इलाहाबाद आदि शहरों के कुछ पढ़े-लिखे लोगों ने इस बारे में उनका अनुसरण किया था जो मेरे जानते १९३८-३९ तक अवश्य जारी रहा। मैं स्वयं भी उन का अनुसरण करने वालों में से था। रामनरेश त्रिपाठी ने हैट के गुण बखानते हुए जब यह लिखा था कि—

हैट यह ईश्वर की दृष्टि से बचाती है, तब उनकी चोट पैंट-कोट-कौलर-टाइ के ऊपर हैट लगाने और अपने देशभाइयों पर ज़ुल्म करने वाले देसी साहबों पर थी, धूप से आंखों को बचाने के लिए हैट लगाने वालों पर नहीं।

देहरादून का दयानन्द विद्यालय छोड़ने के शीघ्र बाद सत्यदेव जी परिव्राजक हो गये। उसके बाद उनकी जिस कृति ने मुझे विशेष आकर्षित किया वह थी उनकी "कैलाश यात्रा" (१९१६)। वह जीवट-जगाने वाली ज्ञान देने वाली कहानी है जो हिन्दी में यात्रा की पहली मौलिक पोथी थी। यों तो सत्यदेव जी की अमरीका-प्रवास की कहानी भी यात्रा-विषयक थी; पर उस यात्रा में स्वावलम्ब के सिवाय और कोई नवीनता न थी; आज दिन जहाज और रेलगाड़ी पर चढ़कर कोई भी अमरीका घूम आ सकता है। सत्यदेव जी की कृतियों से पहले ठाकुर गदाधर सिंह की "चीन में तेरह मास" हिन्दी में यात्रा की पोथी गिनी जाती थी। पर गदाधर सिंह अंग्रेज़ों की उस भाड़ैत सेना में भरती होकर चीन ले जाये गये थे जो अंग्रेज़ी साम्राज्य की सेवा के लिए चीन पर बलात्कार करने और भारत के मुंह पर कालिख पोतने गई थीं; उन्होंने कोई अपनी प्रेरणा, अपनी सूझ या अपने पराक्रम से यात्रा न की थी। सत्यदेव की कैलाश यात्रा में एक स्वतन्त्र पुरुष द्वारा अपरिचित रास्ते की खोज की कहानी और उसकी जागरूक आंखों कानों द्वारा बटोरी गई और सुलझे दिमाग से समझी गई जानकारी की विवरणी थी। भारत और कैलाश प्रदेश के सदियों पुराने सम्बन्ध का

और उस सम्बन्ध को साल-ब-साल बनाये रखने वाले कुमाऊं गढ़वाल के उत्तरी छोर के निवासी भोटियों के अद्भुत सरस जीवन का जो चित्र सत्यदेव जी ने दिया वह अत्यन्त रूचिर और आंखें खोलने वाला था। इसके अतिरिक्त १८४१ ई० में पंजाब के सिक्ख राज्य के सेनापति ज़ोरावरसिंह की मानसरोवर प्रदेश पर चढ़ाई के बारे में उस प्रदेश में चली आती अनुश्रुति को जो ठीक सुन समझ कर उन्होंने दर्ज किया, वह ऐतिहासिकों के लिए स्थायी काम की चीज़ है। हाल ही में गोरखाली इतिहास का अनुशीलन करते हुए मैंने उनके उस वृत्तान्त को जाँचा और साथ ही जाँचा अलमोड़े के कमिशनर चर्ल्स शेरिङ· द्वारा दस बरस पहले लिखे हुए उसी विषय के वृत्तान्त को। मैंने देखा कि स्वामी सत्यदेव ने कितनी सचाई से अनुश्रुति को दर्ज किया है और शेरिङ ने उसमें कितना झूठ जान बूझ कर मिलाया है। इस शताब्दी के शुरू में तिब्बत पर अंग्रेज़ों के दांत गड़े हुए थे। तिब्बत पर चढ़ाई करने से पहले दुनिया को यह बताना जरूरी था कि तिब्बती कैसे जंगली हैं और कि उन्हें सभ्यता सिखाने के लिए ही अंग्रेज़ उनके देश में जा रहे हैं। इस अभिप्राय से इतिहास को झुठलाने का काम शेरिङ ने अपने ज़िम्मे लिया। यह सब देखते हुए स्वामी सत्यदेव की "मेरी कैलाश यात्रा" को हिन्दी वाङ्मय के भंडार में टिकाऊ रत्न मानना होगा।

महात्मा गांधी का शंखनाद देश में गूंजने लगा तो स्वामी सत्यदेव की पुकार नक्कारखाने में तूती की आवाज़ रह गई। वास्तव में वे उन पहले जगाने वालों में से थे जिन्होंने गांधी जी के लिए ज़मीन तैयार की थी। और गांधी आन्दोलन की पहली बाढ़ में उन्होंने ऐसी देन दी जिसका मूल्य इतिहास की दृष्टि से उनकी सारी साहित्यिक सेवा से अधिक है।

उन्होंने कुमाऊँ को ही कार्यक्षेत्र बनाया जिससे अपनी कैलाश यात्रा द्वारा उनका घनिष्ठ सम्पर्क हो चुका था। उनके काम को समझने के लिए कुमाऊँ की एक पुरानी प्रथा के बारे में जानना आवश्यक है। सन् १८१६ में कुमाऊँ के पहलेपहल अंग्रेज़ी राज में जाने पर वहां जो ज़मीन-बन्दोबस्त किया गया था उस में "बेगार और 'कुली उतार' को भी मालगुज़ारी का अंश बना दिया गया (था)। पहाड़ी प्रदेशों में दौरा करने जब कोई सरकारी अधिकारी आए तब प्रत्येक मालगुज़ारी देने

वाले पर स्वयं कुली बनकर अथवा अपने आश्रित मज़दूरों द्वारा उसका बोझा ढुवाने की ज़िम्मेदारी डाली गई, जो उन्हें बारी बारी निभानी पड़ती। जिस गांव में से अधिकारी गुज़रे या जहां डेरा डालें वहां के लोगों को बेगार में सब तरह का रसद-सामान भी उनके लिए मोहय्या करना पड़ता। न केवल अधिकारी प्रत्युत गोरे सैलानी भी इस प्रथा का लाभ उठाते, और जब कोई 'साहब' पहाड़ में जाता तब पचासों मज़दूर एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक उसका सामान—कमोड तक—सिर पर ढो कर ले जाते। यों यह एक तरह की गुलामी प्रथा (थी जो) मालगुज़ारी बन्दोबस्त में शामिल कर दी गई (थी)।" (इतिहासप्रवेश, ५ वां संस्क०, १९५७, पृ० ७०७-८)।

सन् १९२१-२२ में इस गुलामी प्रथा का जैसे अन्त हुआ उसका विवरण तभी कानपुर के "प्रताप" में निकला था, जिसके आधार पर मैंने 'इतिहासप्रवेश' में उस घटना को यों दर्ज किया है—

"गढ़वाल-कुमाऊँ में बेगार और कुली-उतार के विरुद्ध सन् १९२१ में भर ज़ोर का आन्दोलन चला। अलमोड़ा जिले में बागेश्वर में माघ-संक्रान्ति के दिन लोग सरयू में स्नान करते हैं और बड़ा मेला लगता है। जनवरी १९२१ में वहां हज़ारों किसानों ने इकट्ठे होकर प्रण किया कि आगे से हम बेगार और कुली-उतार न देंगे, और वहीं इकट्ठे हुए पटवारियों ने कुली-उतार विषयक सब कागज़ सरयू में बहा दिये। यों सौ बरस से चली आती वह गुलामी की प्रथा समाप्त हुई।" (इ० प्र०, ५ संस्क०, पृ० ८९८-९९)।

"प्रताप" में यह सूचना भी थी कि कुमाऊँ का यह आन्दोलन और कुली-उतार के कागज़ों का सरयू में प्रवाह स्वामी सत्यदेव के पथ-दर्शन में हुआ। भारत के सामान्य इतिहास में इस तफ़सील के लिए जगह न थी, पर स्वामी सत्यदेव के संस्मरणों में इसे छोड़ा नहीं जा सकता।

सन् १९२१ के बाद भी सत्यदेव देश और हिन्दी साहित्य को बराबर कुछ न कुछ देते ही रहे हैं। वे अब तक भी बुझे कारतूस नहीं हुए। पर उन की असल देन १९११—२१ युग की है और उसी के कारण हम उन्हें भारत को जगाने और हिन्दी साहित्य को स्फूर्ति देने वालों में गिनते हैं।

****

श्री टेकचन्द धींगरा

राजनैतिक-सन्यासी

भारतवर्ष में स्वामी सत्यदेव पहले हिन्दी लेखक हैं जिनको हिन्दी के क्षेत्र में महान सफलता प्राप्त हुई। जिस समय उन्होंने यह कार्य आरम्भ किया, उस समय हिन्दी का विशाल क्षेत्र नहीं था। स्वामी जी पंजाब के रहने वाले हैं और जिस समय उन्हों ने हिन्दी में अपनी पहली पुस्तक लिखी थी, उस समय पंजाब में पंजाबी की भी चर्चा नहीं थी, सब कार्य उर्दू में होता था ; स्कूलों में बच्चों की पढ़ाई का आरम्भ भी उर्दू-भाषा से होता था, स्वामी जी की शिक्षा का आरम्भ भी अवश्य उर्दू से हुआ होगा। निस्संदेह अंग्रेज़ी भाषा को अवश्य प्रभुत्व प्राप्त था परन्तु उर्दू भाषा इतनी प्रचलित थी कि दूसरी कोई भाषा उस के सामने दम नहीं मार सकती थी। हिन्दी की हीन दशा के विषय में एक उस समय का चुटकला स्थिति को स्पष्ट कर देगा—एक ब्राह्मण देवता के पुत्र ने किसी अन्य ब्राह्मण भाई से हिन्दी पढ़नी आरम्भ कर दी, उस के पिता को जब यह बात मालूम हुई तो उस ने अपने बेटे को बुला कर डांटते हुए कहा—"अरे मूर्ख ! तुम्हें तो तहसीलदार बनना है, अदालत में उर्दू की मिसलें कैसे पढ़ोगे ?" उस समय अदालतों में उर्दू-फारसी की आवश्यकता थी।

और सुनिए, उन्हीं दिनों में डेरा इस्माईलखान के एक व्यक्ति ने अपने एक मित्र को जो लुध्याने में रहते थे, (जहां स्वामी जी का जन्म स्थान है) पत्र हिन्दी में लिखा। मित्र ने उत्तर उर्दू भाषा में दिया और उस का आरम्भ इस प्रकार किया—"आपका पत्र उस भाषा में मिला जो स्त्रियां प्रयोग करती हैं"—इस समय वह बात हँसी की लगती है, परन्तु सत्य तो यह है कि हिन्दी भाषा का प्रयोग उस समय केवल स्त्रियों तक ही सीमित था। उन के पठन-पाठन का कार्य हिन्दी से आरम्भ होता था, कुछ समझदार पति अपनी धर्म-

पत्नियों की सुविधा के लिए हिन्दी सीख लेते थे, जिस से उन की पारस्परिक प्रेम की बातें दूसरों तक न पहुँच सकें। पतिदेव को हिन्दी का ककहरा सीखने में इतनी कठिनाई होती थी कि पत्नियाँ गौरव से कहती थीं कि मेरे पतिदेव ने मेरी खातिर हिन्दी भाषा सीखी है। वह पत्र अशुद्ध अवश्य लिखते हैं, परन्तु उन के हार्दिक विचार मुझ तक ठीक पहुँच जाते हैं।

आर्यसमाज और हिन्दी

सचमुच इस बात का श्रेय आर्यसमाज को ही मिलना चाहिए जिस ने पंजाब में सब से पहले हिन्दी-संस्कृत का झंडा फहराया, परन्तु उस समय यह चर्चा केवल आर्यसमाज के मन्दिरों तक ही सीमित रही। उस युग में अज्ञानवश संस्कृत-हिन्दी भाषाओं को शास्त्रीय भाषाएं पुकारा जाता था और इन्हें केवल ब्राह्मणों के लिए ही उपयुक्त माना जाता था। आर्यसमाज के प्रचार द्वारा जब वेद शास्त्र की प्रतिष्ठा जन साधारण में व्यापक होने लगी और अपने सनातन-धर्म को जानना कर्त्तव्य समझा जाने लगा तो हिन्दी-संस्कृत की ओर समाज का ध्यान आकर्षित हुआ। आर्यसमाज के स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनाया गया और वेद-शास्त्र पढ़ने के लिए संस्कृत का जानना अनिवार्य माना जाने लगा। ज्यों ज्यों वैदिक-धर्म का प्रचार पंजाब प्रान्त में होता गया, त्यों-त्यों हिन्दी का आदर प्रजा में बढ़ने लगा।

क्योंकि स्वामी जी ने डी० ए० वी० हाई स्कूल में शिक्षा पाई है, इसलिए हिन्दी के माध्यम द्वारा इन्हें भी शिक्षा मिली। स्वामी जी हिन्दी पढ़ने लिखने में प्रारम्भ से ही बड़े निपुण रहे, उन्हें पुरस्कार स्वरूप महर्षि दयानन्द जी की जीवनी तथा रौबिन्सन-क्रूसो आदि की पुस्तकें भेंट में मिलीं, जिस से उत्साहित होकर वे हिन्दी बड़े शौक से पढ़ने लगे। ला० लाजपत राय द्वारा लिखित मैजिनी की जीवनी ने इन में देश-भक्ति भरी और इन्हों ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे गुलाम सन्तान उत्पन्न नहीं करेंगे और स्वतन्त्रता की खोज करने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

कठिन-पथ

उस समय संयुक्त राज्य अमरीका ही स्वतन्त्रता-केन्द्र माना जाता था। स्वामी जी पहले काशी गए और उन्हों ने वहाँ से १५ रुपए ले कर

अमरीका की ओर जाने का संकल्प किया। इन के पास केवल १५ रुपए थे, इस छोटी पूंजी के साथ वे नई दुनियाँ की ओर चल दिए और डेढ़ वर्ष के परिश्रम के बाद वहां पहुँचने में सफल हुए। उन्होंने वहां पाँच वर्ष रह कर स्नातक की डिग्री पाई और २,३०० मील पैदल घूमकर स्वतन्त्रता की खोज की। वहां से भरपूर सामग्री ले कर वह स्वदेश लौटे और मातृभाषा द्वारा उस सन्देश का प्रचार करने लगे। उस युग में भारतवर्ष का कोई पढ़ा-लिखा विदेश की डिग्री पाकर हिन्दी में ग्रन्थ लिखने और प्रचार करने का साहस नहीं कर सका। भागलपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने स्वामी जी से पूछा कि आप क्या काम करेंगे। जब स्वामी जी ने हिन्दी में पुस्तकें लिखने की बात बताई तो उन्होंने व्यंग वचनों में कहा कि— "आपकी हिन्दी पुस्तकें कौन खरीदेगा? आप भूखे मर जाएंगे।" सारे भारतवर्ष में हमें कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि विदेशों से डिग्री पाया हुआ कोई नवयुवक हिन्दी में पुस्तकें लिख कर आर्थिक सफलता प्राप्त करने की हिम्मत करता। स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक ही एक ऐसे हिन्दी लेखक हैं जिन्हों ने हिन्दी-भाषा में ग्रन्थ लिख कर सफल लेखक की पदवी पाई है और अब तक किसी के सामने पैसे के लिए झोली नहीं फैलाई।

कांग्रेस को स्वामी जी की देन

स्वामी जी ने स्वतन्त्रता के हेतु ही पुस्तकों और व्याख्यानों का सिलसिला चलाया था। "दासता के प्रति घृणा, और स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम" यह उनका नारा था, जिस का प्रचार उन्हों ने जन साधारण में घूम घूम कर किया। शायद ही कोई प्रान्त उन के सिंहनाद से बचा होगा। लाखों विद्यार्थियों को उन्होंने अपना आज़ादी का सन्देश सुनाया।

सन् १९२६ में जब कांग्रेस पर भीड़ पड़ी और देश के बड़े बड़े हिन्दु नेता कांग्रेस से अलग हिन्दु-हितों के नाम पर पृथक पार्टी बना बैठे, प्रातः स्मरणीय हमारे प्रधान-मंत्री जी के पूज्य पिता श्रीमान् पंडित मोती लाल जी नेहरू ने स्वराज्य पार्टी की ओर से तारें व चिट्ठियां भेजकर स्वामी जी को सहायता के लिए बुलाया। स्वामी जी ने कई नगरों में कांग्रेस के पक्ष को प्रजा के सामने ऐसी खूबी से सुनाया कि कांग्रेस के उम्मीदवार मैदान जीत गए। स्वामी जी पं० मोतीलाल जी नेहरू की स्वराज्य पार्टी

की ओर से पंजाब में प्रचार कर ही रहे थे कि उन्हें डा० राजेन्द्र प्रसाद जी की सहायतार्थ बिहार जाने का आदेश मिला। क्योंकि मतदाताओं का यह कहना था कि जिधर स्वामी जी कहेंगे उधर ही हम मत (वोट) देंगे, कांग्रेस प्रत्याशी के विरुद्ध शक्तिशाली हथुआ के महाराज खड़े हुए थे इस लिए स्वामी जी कांग्रेस को विजयी बनाने के लिए तार द्वारा पटना पहुँचे। स्वामी जी के पहुँचते ही चुनाव-क्षेत्र में आशातीत परिवर्तन होने के कारण कांग्रेस उम्मीदवार की विजय हो गई।

सन्यासी के रूप में

अमरीका में अध्ययन के समय जब उन से एक अमरीकन देवी ने विवाह की इच्छा प्रकट की तो स्वामी जी मुस्कराते हुए बोले—"मेरा विवाह तो हो चुका है—" उस नारी ने चकित हो कर पूछा "किससे ?" स्वामी जी ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—"मेरे प्यारे देश से"।

उस अमरीकन रमणी के लिए यह उत्तर आश्चर्य-जनक था, किन्तु स्वामी जी के देश-वासी उन की यह भीष्म-प्रतिज्ञा—"मैं गुलाम सन्तान उत्पन्न नहीं करूँगा—" को भली प्रकार जानते थे। कारण, निश्चय ही उन्हों ने राजनैतिक सन्यास ले लिया था, परन्तु कपड़े नहीं रंगे थे। जब इस परिवर्तन का समय आया तो वह झिझके नहीं, क्यों कि गेरुए वस्त्र धारण करने से उन का राजनैतिक कार्य प्रभावशाली हो गया, प्रजा उन के उपदेश ध्यान-पूर्वक सुनने लगी। स्वामी जी के सन्यासी हो जाने पर वे अध्यात्मवाद के केन्द्र में आ गए और उन का व्यक्तित्व और भी ऊँचा हो गया। जो कोई उन्हें देखता, वह गुरु-भावना से उन से उपदेश ग्रहण करता, और उन की पुस्तकें पढ़ता। उन्हों ने छोटी बड़ी सब पुस्तकें मिलाकर कुल ३२ पुस्तकें लिखीं हैं, जिन में राजनीति, सच्चरित्रता, समाजशास्त्र, शिक्षा के आदर्श, विद्यार्थियों के कर्त्तव्य, ईश्वर-दर्शन, ब्रह्मचर्य की महिमा, आरोग्य, व्यायाम, विदेशों की मनोरंजक और उपदेश-प्रद यात्राएं सम्मिलित हैं। उन की कैलाशयात्रा, योरोप की सुखद-स्मृतियां, अमरीका-प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी, मेरी जर्मनी यात्रा, अमरीका के स्वावलम्बी विद्यार्थी आदि पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए अनुपम हैं। पाठक उन्हें पढ़ कर कृत-कृत्य हो जाते हैं और तभी उन की पुस्तकें देश में अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं, जिनका प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद हुआ है तथा बराबर हो रहा है। बड़े बड़े लेखक अपनी टैक्सट-बुकों में उन के लेख उद्धृत कर अपने को धन्य मानते हैं।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

जब मैं विद्यार्थी था तब श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के लेख पढ़ा करता था। स्वामी जी के लेख उन दिनों प्रायः "सरस्वती" में निकला करते थे। एक ऊँचे दर्जे के भारतीय सज्जन अमेरीका की यात्रा करके हिन्दी में लेख लिखे, उन दिनों यही बात काफी आश्चर्य में डालने वाली थी। उन का विशेष प्रभाव नवयुवकों पर तब पड़ता था जब उन लेखों के विषय पर दृष्टि पड़ती थी। उस दासता के युग में स्वाधीनता की चर्चा हृदय में अद्भुत गुदगुदी पैदा करती थी। स्वामी जी के लेखों की प्रारम्भ से ही यह विशेषता रही है कि वे मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक हर प्रकार की स्वाधीनता के भावों से ओत-प्रोत होते हैं। हम विद्यार्थी लोग बड़े चाव से स्वामी जी के लेखों को पढ़ते थे और अगले लेख की प्रतीक्षा करने लगते थे। जब स्वामी जी अमेरीका से लौट कर आये तब उन की मनुष्यों के अधिकार के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई। देश उस समय राष्ट्रीय स्वाधीनता के युद्ध में प्रवेश कर रहा था। स्वामी जी की पुस्तक नवयुवकों के कानों में युद्ध घोषणा के समान पड़ी। तब से अब तक लगभग पचास वर्ष हो गए, स्वामी जी निरन्तर अपने लेखों द्वारा सर्वतोमुखी स्वाधीनता के प्रचार में लगे हुए हैं।

हिन्दी के पाठक जानते हैं कि स्वामी जी की लेखशैली में अद्भुत आकर्षण है। आप के भाषणों और लेखों में हरेक वस्तु को ऐसी स्पष्ट और रोचक रीति से समझाया जाता है कि हरेक श्रेणी के श्रोता और पाठक उन्हें समझ सके और हृदयगत कर लें। आप के शब्दों में विशेष तेजस्विता रहती है जिसे आप के ओजस्वी व्यक्तित्व का सम्पर्क बहुत प्रभावशाली बना देता है।

स्वामी जी ने समाज के विविध पहलुओं पर छोटे बड़े दर्जनों ग्रन्थ लिखे हैं आप के सभी ग्रन्थ लोक प्रिय हुए हैं उन से जहां

ओजस्वी भावों का प्रचार हुआ है वहां उत्तरीय भारत में हिन्दी भाषा की ओर सब श्रेणी के पाठकों की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। विशेष गौरव-पूर्ण बात यह है कि आँखों की शक्ति चले जाने पर भी स्वामी जी का लेखन कार्य बन्द नहीं हुआ। ८० वर्ष से अधिक आयु हो गई है, आँखें काम नहीं करतीं परन्तु मनोबल, प्रतिभा और स्मरणशक्ति के सहारे से स्वामी जी आज भी उतने ही सचेत और सक्रिय हैं, जितने आज से ५८ वर्ष पूर्व थे। वस्तुत: नौजवानों के लिए और प्रौढों के लिए स्वामी जी का कर्मठ जीवन एक उत्साहवर्धक दृष्टान्त है। पंजाब सरकार ने आप को साहित्य सेवाओं के लिए पुरस्कृत करके अपने आप को ही समादृत किया है।

*****

श्री सन्त राम

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक--जैसा मैं ने उन्हें देखा

स्वामी सत्यदेव जी मेरे लिए सदा अदम्य उत्साह और पूर्ण आशावाद के प्रतीक रहे हैं। मेरे अपने जीवन में जब जब भी घोर निराशा की घड़ियाँ आई हैं स्वामी जी के उदाहरण से मुझे सदा भारी ढाढ़स मिली है। गत जुलाई, १९५८ में मुझे गांधी हिन्दी पुरस्कार लेने भोपाल जाना पड़ा था। आँखों में मोतिया बिन्दु हो जाने से मैं अकेला यात्रा नहीं कर सकता था। इस पर गांधी राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा, ने मुझे सहायता के लिये दो और व्यक्ति अपने साथ लाने की अनुमति दे दी थी और उन का मार्ग-व्यय देना स्वीकार कर लिया था। अतः मैं अपनी पत्नी सौभाग्यवती सुन्दर बाई और भतीजे श्री अरुण को भी साथ ले गया था। यह सब मेरी लाचारी थी। लौटते समय हम सब ज्वालापुर में स्वामी जी से मिलने उन के सत्यज्ञान निकेतन में गए। स्वामी जी कई वर्ष से निपट अन्धे हो चुके हैं। उन के नेत्रों में ज्योति की कोई रश्मि नहीं रही, फिर भी उन को अपने सभी काम सुचारु रूप से आप करते देख मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन का निवास-स्थान बहुत साफ-सुथरा था। प्रत्येक वस्तु सुव्यवस्थित रूप से रखी थी। खाना वह आप बना लेते थे।

मेरे पूछने पर स्वामी जी बोले--"यदि आप अपनी चीज़ों का ध्यान रखेंगे तो आप की चीज़ें आप का ध्यान रखेंगी। मैं प्रत्येक वस्तु को उस के उचित स्थान पर रखता हूँ। इस लिए प्रत्येक वस्तु मेरा ध्यान रखती है। मुझे कोई चीज़ ढूंढने में कभी कठिनाई नहीं होती। वह अपने स्थान पर विद्यमान रहती है।"

मैं ने परीक्षा के लिए यों ही पूछा--"भला बताइए तो, आप की माला कहाँ है?"

इस पर उन्होंने झट ठीक उधर उँगली से संकेत कर दिया जहाँ माला कील से लटक रही थी। उन्होंने बताया कि माला तो दूर, मैं अपनी कोई पुस्तक भी दूसरी पुस्तकों में से झट अलग निकाल लेता हूँ। स्वामी जी इस अन्वेषण में ही पाँच बार अकेले जर्मनी हो आए हैं। मैं मन में सोचने लगा कि मोतिया बिन्दु हो जाने पर भी मुझे इन की अपेक्षा तो कहीं अधिक दिखाई देता है तो भी मुझे इधर उधर अकेले जाते भय होता है ; स्वामी जी में कितना अदम्य साहस है जो अकेले विदेश-यात्रा कर लेते हैं।

मैं ने फिर पूछा—"स्वामी जी, आप की दृष्टि कब से गई है ? मैं तो कई वर्ष से आप को ऐसा ही देखता हूँ।"

बोले—"जीवन में कभी भी मेरी नेत्र-ज्योति स्वाभाविक नहीं थी। युवाकाल में भी वह चालीस प्रतिशत से कभी अधिक नहीं थी।"

स्वामी जी का स्वास्थ्य बहुत बढ़िया, शरीर हृष्ट-पुष्ट और मुखमंडल भरा हुआ था। वे नित्य नियमपूर्वक व्यायाम करते हैं। खाते भी खूब हैं और पचाते भी खूब हैं। वे अमेरीका में बरसों रहे हैं। वे कहा करते हैं कि पाश्चात्य लोग वीर्य उत्पन्न भी खूब करते हैं और खर्च भी खूब करते हैं। इस के विपरीत हमारे भारतीय वीर्य खर्च तो बहुत करते हैं परन्तु उत्पन्न कुछ नहीं करते।

मैं समझता हूँ, उन का परिव्राजक नाम जितना उन के लिए सार्थक है उतना बहुत थोड़े दूसरे लोगों के लिए होगा। उन्होंने संसार का खूब भ्रमण किया है। उन के गत जीवन पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगने लगता है मानों वे किसी कवि के निम्नलिखित पद्य पर पूरी तरह आचरण करते रहे हैं—

सैर कर दुनियाँ की गाफ़िल,
ज़िन्दगानी फिर कहां ?
ज़िन्दगी गर हुई तो भी,
नौजवानी फिर कहां ?

मैं समझता हूँ अपने अमेरिका-प्रवास पर उन की पुस्तक पढ़कर जितने भारतीय नवयुवकों को विदेश-यात्रा की प्रेरणा मिली है उतनी कदाचित दूसरे किसी भ्रमण-वृत्तान्त से नहीं।

स्वामी जी ने नवयुवकों के पथप्रदर्शन और चरित्र-निर्माण में बड़ा काम किया है। "संजीवनी बूटी" और "ज्ञान के उद्यान में" जैसी सुन्दर और उपयोगी पुस्तकें लिख कर उन्होंने स्वदेश के तरुण-समाज को ब्रह्मचर्य एवं सदाचार की शिक्षा दी है और साथ ही बुद्धि-वाद का प्रचार कर के उन के ज्ञान-नेत्र खोल दिए हैं।

देश के विभाजन के पूर्व स्वामी जी कुछ वर्ष लाहौर में रहे थे। वहां रामगली में आप ने "सुकरात स्वाध्याय मण्डल" नाम की एक संस्था बना रखी थी। उस में वे युवक समाज को विचार-स्वातन्त्र्य की शिक्षा दिया करते थे। वे कहा करते थे कि सत्य ज्ञान जहाँ से भी और जिस से भी मिले लेने में संकोच मत करो; कभी किसी एक ही खूंटे से बंधे रहना पसंद न करो।

साम्प्रदायिकता की कहानियाँ बताते हुए वे कहा करते हैं कि जब कोई मनुष्य किसी धर्म-गुरु या संप्रदाय में जाता है तो वह गुरु और संप्रदाय स्वार्थवश यह चाहता है कि वह मेरे ही खूटे मे बन्ध जाये, ज्ञान की खोज में और आगे न जाये। परन्तु जिज्ञासु का कल्याण इस में है कि एक गुरु से उसे जितना कुछ मिल सकता है उतना उस से ले ले, फिर और अधिक ज्ञान-लाभ के उद्देश्य से आगे चल पड़े। एक ही खूंटे से बन्धे जाने से उस का मानसिक और चारित्रिक विकास रुक जाता है और बौद्धिक सड़ांद उत्पन्न हो जाती है, जो कालान्तर में उसे कूप-मण्डूक बना कर ले डूबती है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में हम देखते हैं कि विभिन्न आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की बातों को चरम सत्य के रूप में मान्यता न दे कर बुद्धि, अनुभव और प्रयोग की कसौटी पर उन को कस कर देखा है। उन्हों ने उन के बताए सिद्धान्तों का खण्डन करने, और आगे बढ़ने में कभी संकोच नहीं किया। आईन्स्टीन को न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का खण्डन करके अपना सापेक्षवाद प्रस्तुत करने में कभी डर नहीं लगा। इसी से भौतिक विज्ञान आज इतना उन्नत हो पाया है। आध्यात्मिक एवं धार्मिक जगत में भी इसी पद्धति का अनुसरण होना चाहिए।

आजकल अधिकांश लोग साहित्य का अर्थ कहानी, नाटक और उपन्यास प्रभृति परिकथा ही समझते हैं। परन्तु स्वामी जी का साहित्य, इस के विपरीत, एक ठोस वस्तु है। उस से पाठक को आत्मोद्धार और देशोपकार

की प्रेरणा मिलती है। ऐसा लगता है, मानो स्वामी जी कह रहे हों कि "हमारा काम यह नहीं है कि इस विशाल देश में बसे थोड़े में बौद्धिक विलासियों का फालतू समय चैन से काटने के लिए मनोरञ्जक साहित्य नाम की मधुशाला सब समय खुला रखें। हमारा काम तो यह है कि इस विशाल देश के कोने-कोने में फैले हुए जन-साधारण के मन में विशृंखलित वर्तमान के प्रति विद्रोह और भव्य भविष्य के निर्माण की क्षुधा जागृत करें।" उन की रचनाओं में आप को कहीं भी केवल मनोरञ्जन द्वारा पैसा बटोरने के लिए लिखी निःसार सामग्री न मिलेगी। उन की सब कृतियों में उन का गम्भीर चिन्तन और संसार का व्यापक पर्यवेक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी सत्यदेव सन्यासी अवश्य हैं। परन्तु उन का सन्यास संसार के कर्म-कोलाहल से दूर भागने या निवृत्ति-मार्ग का सन्यास नहीं। संसार के दुःखों को दूर कर के उसे सुखधाम बनाने के यत्न में अपने जीवन को होम कर देना ही उन का जीवन-दर्शन है। मानवता की सेवा ही उन का अध्यात्मवाद है। मार्टिन लूथर के शब्दों में वे कहते हैं—

> "मैं ने अनुभव किया है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन उस परम पावन विराट् जीवन का प्रवेश-द्वार है जहाँ हमारे समस्त संतापों, अभावों और विकृतियों का अन्त है। इस देह के द्वार पर खड़े हो कर मैं ने स्वयम् इस विराट् जीवन को देखा है। मेरी सब में प्रिय कामना यही है कि मेरे ही अन्यरूप जगत के ये कोट-कोटि जीव भी अपनी देह में झांकें, और आनन्द, सौन्दर्य, माधुर्य एवं अमरता के इस लोक के दर्शन करें।"

सचमुच दीन-दुःखी, पददलित मानवता का उद्धार कर के उसे सुख-स्वर्ग की उपलब्धि कराना ही सच्चे सन्यास का यथार्थ उद्देश्य है। मैं ने बहुत से ब्रह्मवादी हिन्दु सन्यासी देखे हैं, जो सारे जगत को एक ब्रह्म का ही रूप मानते हैं, जो जड़ और चेतन के भेदभाव को भी स्वीकार नहीं करते। परन्तु जब जात-पाँत के भेदभाव को मिटाने की बात आती है तो झट बोल उठते हैं—ब्रह्म-सत्ता की दृष्टि से निस्सन्देह सारा जगत एक है, फिर भी व्यवहार में ब्राह्मण और शूद्र का, सवर्ण

ग्रौर ग्रवर्ण का भेद रखना ही ग्रावश्यक है। ऐसे लोग मानो हिन्दू-दर्शन रूपी स्वादिष्ठ खीर पर ग्रपने इस कथन से राख डाल रहे हैं। इन की कथनी ग्रौर करनी का यह ग्रन्तर उन के सन्यासाश्रम का मूल्य दो कौड़ी नहीं रहने देता।

परन्तु स्वामी सत्यदेव जी की ऐसी बात नहीं। वे जो बात मुख से कहते हैं उन का ग्राचरण भी उस का समर्थन करता है। वे जातिभेद के द्वैतभाव को तिलाञ्जलि दे चुके हैं। इसलिए न केवल एक हिन्दी-लेखक के रूप में वरन् एक सच्चे साधु के रूप में भी उन का सर्वत्र सम्मान ग्रौर ग्रादर है। उन के भक्त उन की जन्म-भूमि पंजाब ग्रौर काठियावाड़-गुजरात प्रभृति भारत के दूसरे भागों में ही नहीं, वरन् भारत से बाहर सुदूर जर्मनी में भी उन की श्रद्धालु स्त्रियाँ ग्रौर पुरुष हैं। यह उन के लिए ग्रौर हमारे लिए कुछ कम गौरव की बात नहीं।

****

पं० धर्म देव विद्यावाचस्पति

यथार्थ अध्यात्मवादी–स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक

मुझे यह जानकर अत्यधिक हर्ष हुआ है कि पंजाब सरकार ने सुप्रसिद्ध सिद्धहस्त लेखक और ओजस्वी वक्ता स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक की साहित्यिक सेवाओं के लिए उन्हें २९ मार्च को सत्कृत करने का निश्चय किया है। स्वामी सत्यदेव जी न केवल साहित्यकार हैं अपितु वे प्रभावशाली राष्ट्रीय-कार्यकर्ता होने के अतिरिक्त यथार्थ-अध्यात्मवादी दार्शनिक भी हैं। जिन्हें उन की "अनन्त की ओर" तथा "अनुभूतियां" इत्यादि पुस्तकों को पढ़ने का तथा उन के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे जानते हैं कि मान्य स्वामी सत्यदेव जी किस प्रकार उच्चकोटि के आध्यात्मिक अनुभूति-सम्पन्न दार्शनिक महानुभाव हैं। उन्होंने "अनन्त की ओर" पुस्तक में मुखपृष्ठ पर लिखा है :—

> "हम अनन्त से आ रहे हैं, अनन्त में हमारा निवास है और अनन्त की ओर हम जा रहे हैं, इसलिये हे भद्रपुरुषो! सत्यज्ञान के रत्नों का संचय करो, क्योंकि वही तुम्हारी सच्ची निधि है, जिसे तुम्हारे साथ जाना है।"

प्रिय पाठक! आइए, हम आप को उन के अध्यात्मवाद के अमृत का कुछ रसास्वादन कराएं।

"अनन्त की ओर" के पृष्ठ २३ पर एक उदाहरण को लिख कर उन्होंने कहा है —

> "क्या इस उदाहरण से हम अध्यात्मवाद की उस शिक्षा को ग्रहण नहीं कर सकते जो हमें बार-बार उस प्रभु के साथ सम्बन्ध करने का आदेश देती है? विश्व में

सुख और शान्ति लाने का सर्वोत्कृष्ट उपाय यही है कि हम अपना मुंह अनन्त की ओर करें। जितने दर्जे तक हम अपनी एकता, अपना सम्बन्ध उस अनन्त प्रभु से करेंगे, जितने दर्जे तक हम उस ब्रह्मधारा को अपने मन में स्थान देंगे उतने ही दर्जे तक हम उस महान् शक्तिशाली सर्वोत्कृष्ट और सौंदर्य की मूर्त्ति के साथ सम्बन्ध कर शान्तिलाभ करेंगे।"

"वैद्यराज परमात्मा" इस शीर्षक की ३३वीं अनुभूति में अध्यात्म-वादी स्वामी सत्यदेव जी ने अपने अनुभव को कितने सरल और प्रभावोत्पादक शब्दों में प्रकट किया है—

"आओ प्यारे तुम्हें मिलावें, वैद्यराज उस ईश्वर से,
जिस के निकट रोग नहीं आवें, ऐसे उस जगदीश्वर से।
सब दुःखों के हरने वाला, जगन्नियन्ता स्वामी है,
जीवन ज्योति जलाने वाला, घट घट अन्तर्यामी है।
एक बार जब मन-मन्दिर में ब्रह्मज्ञान की धार बहे,
जन्म-जन्म के गन्द-फन्द का, कुछ भी शेष न चिन्ह रहे।
वाह्य जगत् से मन हट जाए, अन्तर्नाद सुनाई दे,
हृदय-पटों के खुल जाने से, दिव्य प्रकाश दिखाई दे।
परम ब्रह्म पर श्रद्धा रख तूं, रोग निकट नहीं आवेगा,
जीवन-शुद्ध यदि हो जावे, तभी मनुज-पद पावेगा।
यही निवेदन "देव" करे अब, दूर करो सब मनोविकार,
नीरोगी यह मन हो जावे, तभी मिलेगा ब्रह्मद्वार।"

(अनुभूतियां, पृष्ठ २६)

यह है अध्यात्मवाद का स्वानुभव संवेद्य सच्चा स्वरूप जिस को मान्य स्वामी जी ने इन सरल शब्दों में प्रकट करने का यत्न किया है। स्वामी सत्यदेव जी धर्मग्रन्थों में लिखी परमात्मा-आत्मा आदि विषयक बातों को तोते की तरह रट लेने और उन के पुस्तकीय ज्ञान को प्राप्त कर लेने को अध्यात्मवाद नहीं मानते। वे तो आत्मा और परमात्मा विषयक अनुभव स्वयं प्राप्त कर लेने पर बल देते हैं और इसी उद्देश्य से उन्होंने "अनन्त की ओर" तथा "अनुभूतियां" लिखी हैं।

"अनन्त की ओर" के "अखण्ड शान्ति की अनुभूति" शीर्षक, अष्टम अध्याय में माननीय स्वामी जी ने इस विषय में ठीक ही लिखा है—

"यह पवित्रविश्वात्मा आनन्द-शान्ति का स्रोत है। ज्यों ही हम इस के साथ एकता स्थापित कर लेते हैं त्यों ही शान्ति और एकत्व की धारा का रसास्वादन हमें मिलने लगता है; क्योंकि शान्ति के अर्थ हैं एकत्व की स्थापना। एक गम्भीर आन्तरिक अभिप्राय इस सत्य-सिद्धान्त की जड़ में काम कर रहा है। **अध्यात्मवादी होने का अर्थ सजीव और शान्त होना है।** इस तथ्य को पहचानना कि हम आत्मा हैं और इसी विचार में निमग्न रहना ही अध्यात्मवाद की ओर मुंह करना है और इस प्रकार एकता और शान्ति का वातावरण पैदा करना है। हमारे इर्द-गिर्द लाखों स्त्री-पुरुष चिन्ता के मारे दुःखी और अशान्त दिखाई पड़ते हैं, जो इधर उधर शान्ति के लिए भटक रहे हैं और जिन के शरीर और आत्मा थकावट से चूर हैं। वे शान्ति की तालाश में दूसरे देशों की यात्रा करते हैं, पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हैं, तीर्थों की हवा खाते हैं, हरिद्वार में जाकर गंगा जी में डुबकियां लगाते हैं, मुक्ति की तालाश में काशी या प्रयाग की धूल फांकते हैं। किन्तु शोक! उन्हें कहीं भी शान्ति उपलब्ध नहीं होती। निःसन्देह उन्हें शान्ति नहीं मिलती और न कभी मिलेगी, क्योंकि वे अभागे उन स्थानों में जाकर शान्ति तालाश करते हैं जहां शान्ति की छाया तक नहीं। उन्हें चाहिए तो यह कि वे अन्दर शान्ति की खोज करें, किन्तु अज्ञानवश करते हैं उस की खोज बाह्य-जगत् में। शान्ति केवल अन्दर ही मिल सकती है और जब तक मनुष्य उसे अपने अन्तस्थल में नहीं पाएगा वह उसे कहीं नहीं मिल सकती।"

(अनन्त की ओर, पृष्ठ १६५)

यहां यह लिख देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वामी जी माया-वाद और अद्वैतवाद के मानने वाले नहीं हैं। वे मायावाद और जगन्मिथ्यावाद को राष्ट्रीय-दृष्टि से भी अत्यन्त ही हानिकारक मानते

हैं। उन का विश्वास है कि इस के कारण भी भारतवासी आलसी और निष्क्रिय बन कर अवनति के गर्त में गिर गए। वे तो एक ही सर्वव्यापक, निराकार, निर्विकार, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करते और उसी की उपासना करते हैं, साथ ही वह अजर अमर अविनाशी आत्मा की सत्ता, कर्मनियम और पुर्नजन्म में दृढ़ विश्वास रखते हैं। इस प्रकार वे सच्चे अर्थों में यथार्थ अध्यात्मवादी हैं। अपने को वे उपयोगितावादी भी कहते हैं। "अनन्त की ओर" की भूमिका में लिखे उन के निम्नशब्द इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं —

> "मैं हूँ उपयोगितावादी, मुझे छायावादी और रहस्यवादी लटकें कभी पसन्द नहीं आते। दिमाग़ी एयाशी की पुस्तकें और कविताएं मेरे निकट दो कौड़ी कीमत भी नहीं रखतीं। साहित्य भी एक साधन है मानव के उत्कर्ष का। जो भाषा तथा साहित्य समाज को ऊपर नहीं उठाता, दैनिक जीवन की समस्याओं को हल नहीं करता, मनो-विज्ञान के चमत्कारों पर प्रकाश नहीं डालता और सत्यज्ञान की प्राप्ति में सहायक नहीं बनता वह साहित्य और भाषा केवल समय नष्ट करने वाली है।"

इस उपरिनिर्दिष्ट यथार्थ सर्वोपयोगी अध्यात्मवाद का वे समस्त विश्व में प्रचार करना चाहते हैं, और उस के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। हम माननीय स्वामी जी का साहित्यकार के अतिरिक्त इस रूप में भी विशेष रूप से अभिनन्दन करते हैं।

****

पं० भुवन चन्द्र जोशी, वैद्य

स्वामी जी की स्थायी स्मृति

स्वामी जी ने यूरोप की पाँच बार यात्राएं की हैं और हज़ारों रुपए उन यात्राओं में व्यय हो चुके हैं, यह पैसा कहां से आया? देश के किसी धनी से स्वामी जी ने कभी अपील नहीं की। हिन्दी माता ने उन्हें यह आर्थिक सफलता दी है। पिछले ५० वर्षों में उन्हें कभी धन का कष्ट नहीं हुआ और अपनी पुस्तकों की कमाई से उन्होंने सत्यज्ञान निकेतन की स्थापना ज्वालापुर में की, यह उन की जायदाद १,६०,००० रुपए से अधिक लागत की है और इसे बेचने पर उन्हें इतना रुपया मिल सकता था, जिस के सहारे वे मंसूरी, नैनीताल में बंगले खरीदकर चैन की बन्शी बजा सकते थे और मोटरों में घूम सकते थे, पर यह बातें उन के आदर्श के विरुद्ध हैं। उन्होंने इस जायदाद को काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, को दान कर हिन्दी माता के प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा का प्रदर्शन किया है।

इस सत्यज्ञान निकेतन के मध्य में स्वामी जी एक कुटिया में रहते हैं, जिस के नीचे उन्होंने गुफा बनवाई हुई है, इसी कारण उन के बहुत से भक्त उन्हें गुफा निवासी राजनीतिक सन्यासी कहते हैं। स्वामी जी नेत्रों से बिल्कुल लाचार हैं, इस पर भी वह अपना भोजन स्वयं बनाते हैं। उन की दिनचर्या यह है—संध्या को ८ बजे सो जाना, आधी-रात को बारह बजे उठकर तीन घण्टे तक अपने प्रभु से बातें करना, इस के बाद दो घण्टे आराम कर तब दिन का कार्य आरम्भ करना। यदि उन्हें कोई विश्वास-पात्र हिन्दी सेवक मिल जाए तो स्वामी जी धारा-प्रवाह के साथ, अपने अनुभवों से परिपूर्ण कई सुन्दर ग्रन्थों की रचना कर सकते हैं। वे इस गुफा में जीवनपर्यन्त रहने के अधिकारी हैं।

जो सज्जन स्वामी जी के दर्शनार्थ आना चाहते हैं, उन्हें पहले से ही उन से पत्र-व्यवहार कर लेना चाहिए। वे प्रायः सब विषयों पर

प्रकाश डालते हैं । उन का ज्ञान बड़ा विस्तृत है। परन्तु वे सम्प्रदाय चलाने वाले, गुरुडम फैलाने वाले सन्यासी नहीं हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र सोचना सीखे और अपने ही बल-बूते पर अपने मोक्ष का प्रयत्न करे ।

इस सत्यज्ञान निकेतन में एक बड़ा सुन्दर पुस्तकालय है, जिस में परीक्षोपयोगी ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए रखे हुए हैं। पंचपुरी में यही एक ऐसा पुस्तकालय है जो परीक्षार्थियों की सुविधाओं को ध्यान में रख कर ग्रन्थ संग्रह करने का प्रयत्न कर रहा है। हिन्दी के अन्य लेखकों के ग्रन्थों का संग्रह भी इस में है। भिन्न भिन्न विषयों के ग्रन्थों का समावेश यहां पर किया गया है। श्रीमती विदुषीरामप्यारी जी ने अपने स्वर्गीय पिता श्री पं० चन्द्रिका प्रसाद जी त्रिपाठी की स्मृति को अमर बनाने के लिए १५ से १७ हज़ार रुपए तक दान कर इस कीर्तिस्तम्भ को खड़ा किया है।

उपरोक्त पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय सम्बन्धित है, जिस में दैनिक समाचार-पत्रों के अतिरिक्त मासिक, साप्ताहिक पत्र भी आ रहे हैं। हरिद्वार अब शिक्षा का केन्द्र बन रहा है। परन्तु विद्यार्थियों की सुविधा के लिए छात्रावास बहुत कम हैं। इस कारण सत्यज्ञान निकेतन में एक छात्रावास भी स्थापित है। पंचपुरी यात्रियों का नगर है, इस विचार से एक अतिथि-शाला भी है। सत्यज्ञान निकेतन के इस सारे संचालन का कार्य आज के एक अत्यन्त अनुभवी व्यक्ति श्री टेकचन्द जी धींगरा (भूतपूर्व एम० एल० ए०, सीमाप्रांत) के द्वारा हो रहा है, जिनका पंजाब के दैनिक समाचार पत्रों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आप सीमाप्रांत में वर्षों एम० एल० ए० रहे हैं और खान भाइयों के लाल कुर्ती दल के एक कार्यकर्त्ता रहे हैं। स्वामी जी की विचारधारा विशाल है और इसे स्वामी जी का कीर्ति-स्तम्भ ही कहना चाहिए ।

——:o:——

श्री टेक चन्द धींगरा

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की राष्ट्रधर्म सम्बन्धी रचनाएं

जब स्वामी सत्यदेव जी स्वतंत्रता की खोज करने के बाद १६११ के जुलाई मास में संयुक्त राज्य अमेरिका से लौट कर भारतवर्ष आये तो उन के अन्दर राष्ट्रधर्म की आग जल रही थी। वे किसी न किसी प्रकार उस अग्नि को अपने देश में प्रज्वलित करना चाहते थे। वे लेखक थे और व्याख्यान-दाता भी, किन्तु उन्हें कविता करना नहीं आता था—मात्रा के नियमों मे वह परिचित नहीं थे। अपने व्याख्यानों मे पहले वे तुकबन्दी कर भजन गाते और अपने श्रोताओं को देशभक्ति का नशा पिलाते थे। उस समय उन की तुकबन्दी के नमूने हम अपने पाठकों को दिखलाते हैं, जिस से पाठकों को पता लग जाये कि किस प्रकार का राष्ट्रधर्म का नशा स्वामी जी पर अपना प्रभाव डाले हुए था। अपना अमेरिका सम्बन्धी भजन उन्होंने इस देश के लाखों स्त्री-पुरुषों के सामने गा कर सुनाया उसे हम नीचे देते हैं :—

जिस देश में मैं गया था, हूँ हाल अब सुनाता
ज़रा ध्यान दे के सुनना, जो यह देव है बताता
हर एक मर्द-औरत, जिस को था मैंने देखा,
वह देश हित नशे में, फूला न था समाता
चाहे जान तन से जावे, पर देश पै फिदा हैं
छोटे बड़ों में सब में, हुब्बे वतन था पाता
उन की है एक भाषा, और एक राष्ट्र उन का
अच्छे साहित्य द्वारा, उस का है यश बढ़ाता
झंडा है जो मुल्क का, उस के हैं वे उपासक
सब कोई उस के सन्मुख, सिर अपना है झुकाता
खतरे में जब मुल्क हो, और कोई आवे दुश्मन

क्या मर्द हो क्या औरत, झंडे के नीचे आता
उन का यही धर्म है, उन का यही मज़हब है
इस देश के कारण, वह उच्च है कहाता
चालीस मंज़लों के बनते हैं घर वहां पर
बिजली की रोशनी से, हरएक जगमगाता
न ऊँच नीच जाने, न छूत छात माने
सब के हकूक बराबर, सब की है एक माता
भारत को गर उठाना, चाहते हो दिल से अब तुम
तो एक भाषा करदो, तज ऊँच नीच नाता
बिनती यही है करता, कर जोर देव तुम से
अब छूत छात छोड़ो, भारत है सब की माता

* * * * * *

इस प्रकार स्वामी जी देश प्रेम के भजन गाते और बाद में श्रोताओं के सामने जोशीले व्याख्यान देते थे। उन का दूसरा भजन सुनिये—इस का नाम उन्होंने "शक्तिमंत्र" रखा है—

जननी भारत आज हम को मधुर वीणा सुना रही है,
स्वतन्त्रता का राग गा कर मानो अमृत पिला रही है।
सैकड़ों वर्षों से हम थे भाग्य ही के फेर में,
उस की निर्भरता छुड़ा कर स्वावलम्बन सिखा रही है।
था निराशा का भयानक भूत जो हम पर चढ़ा,
राष्ट्र के संगीत बल से शीघ्र उस को भगा रही है।
फिर भला मैं दीनता के शब्द कैसे कह सकूं,
जब कि माता मीठे स्वर से "शक्तिमंत्र" पढ़ा रही है।

इस भजन का प्रचार गुजरात और महाराष्ट्र में खूब हुआ। गंधर्व महाविद्यालय के आचार्य श्री विष्णु दिगम्बर जी इसे खूब गाया करते थे और अपने श्रोताओं को मुग्ध करते थे। इसी प्रकार स्वामी जी ने भजन बनाए थे, जिन्हें गा कर वे हज़ारों श्रोताओं को आकृष्ट करते थे। उन का एक राष्ट्र भजन सुनिए—

भारत मैं तुझ को श्रद्धा से प्रणाम करता हूँ,
अपने हृदय के भावों को चरणों में धरता हूँ।
तुही तो तीस कोटि भारतियों की माता है,
प्राचीन यश को जिस के वेद व्यास गाता है।

सागर ने तेरे चरणों में माथा नवाया है,
ग्रौर शुभ्र हिमालय ने मुकुट को सजाया है।
तू धन्य हो, तू धन्य हो, तू धन्य हो माता,
वह नीच से भी नीच है जो तुझ को भुलाता।
है उच्च सब से श्रेष्ठ जो सेवा तेरी करता,
कर्तव्य पालने में किसी से नहीं डरता।
हरगिज किसी से मत डरो भाइयो बढ़े चलो,
ग्रौर देश हित के कार्य में सब से गले मिलो।

ऐसे ऐसे भजनों द्वारा स्वामी जी श्रोताग्रों में जीवन डालते ग्रौर स्फूर्ति भरते थे। वह समय इस देश में नौकरशाही के द्वारा जनता को ग्रत्यन्त पीड़ित करने का था। थोड़ी सी देश भक्ति प्रदर्शित करने पर पुलिस के डण्डे पड़ते थे। ग्रमेरिका से लौटा हुग्रा यह तरुण सन्यासी सुडौल वजन वाला निर्भय हो कर भजन गाता ग्रौर व्याख्यान देता था। गांधी जी उस समय तक दक्षिण ग्रफरीका से नहीं ग्राए थे। उत्तर प्रदेश ग्रौर बिहार का शायद ही कोई नगर उन की सिंह गर्जना से बचा होगा। पंजाब में भी उन्होंने नादरशाही बृटिश शासन की कुछ परवाह न कर राजधानी लाहौर में रावी के किनारे ग्रपना स्वाधीनता सन्देश सुनाया था। सब संस्थाएँ ग्रौर लीडर उन का व्याख्यान कराते हुए डरते थे। उन्हों ने कमाऊँ की पहाड़ियों में दुःखी प्रजा को ग्राज़ादी का सन्देश सुनाया, बेगार कुली प्रथा का पुतला जलाया ग्रौर डरपोक पहाड़ी प्रजा को ग्रपने व्याख्यानों से बहादुर बना दिया। इसी प्रकार से राजपूताना, मध्यप्रदेश ग्रौर सिन्ध में भी घूम २ कर ग्राज़ादी का सन्देश सुनाते थे। राष्ट्रधर्म के प्रति सच्चा प्रेम ग्रौर दासता के प्रति हार्दिक घृणा की भावनाग्रों को लोगों के दिलों में भरने का पवित्र कार्य स्वामी जी वर्षों तक करते रहे।

****

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

लेखक की कठिनाइयां

यदि ध्यान से सोचा जाये और जीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया जाए तो पता लगेगा कि लेखक बनना कोई धन्धा नहीं है। बहुत से लोक यह समझते हैं कि पुस्तकें लिखना और लेखक का जीवन व्यतीत करना, यह भी एक पेशा है। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि लेखक बनने के लिए बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह कोई ऐसा रोज़गार नहीं, जिसे प्रत्येक व्यक्ति कर सके। हमारे देश के बहुत से नवयुवक यह समझते हैं कि लेखक अथवा कवि बनना बड़ा आसान धंधा है और वह खाली बैठे कहानियां लिखा करते हैं और कविताएं तुकबन्दी कर संपादकों के दरवाज़े खट-खटाते रहते हैं और जब उन्हें सफलता नहीं होती तो वे भाग्य को कोसते, संपादकों को गालियां देते और प्रकाशकों को बुरा-भला कहने लग जाते हैं।

लेखन-कला भी ईश्वराधीन है। अपने अन्दर इस की प्रेरणा-शक्ति होनी चाहिए और उस की उत्पत्ति तब होती है जब मनुष्य किसी मनोरंजक विषय से भर जाता है अथवा उस में किसी उच्च भावना की ज़बरदस्त प्रेरणा होती है। खाली-ठाले निकम्मे पुरुष इस क्षेत्र के बिल्कुल उपयुक्त नहीं। मैं जब पहिली बार घर से निकला था और लाहौर से अमृतसर की ओर पैदल चल दिया था तो मुझे सड़क का वह नीरोग जीवन कैसा सुन्दर मालूम होता था, मानो मैं उसी के लिए पैदा हुआ था। फिर घर से बार-बार निकल भागने की प्रेरणा मुझे सड़क की ओर ले जाती थी, उस प्रेरणा ने आगे चल कर मुझे पक्का (होबो) बना दिया और मैंने हज़ारों मीलों की यात्राएं सहज में ही कर डालीं और सारी दुनियां की प्रदक्षिणा कर ली।

इस प्रकार घूमने वाले को केवल घूमने का ही नशा नहीं होना चाहिए बिना आदर्श के घूमना आवारागर्दी कहलाता है । जीवन को सफल बनाने के लिए इन्द्रियों का सद्-उपयोग करने के लिए ही निरीक्षण शक्ति का आभास अवश्य होना चाहिए और मनुष्य यह समझने लग जाए कि प्रत्येक इन्द्रिय का सद्-उपयोग कैसे किया जाता है ।

लेखक दो प्रकार के होते हैं—एक तो वह जो दूसरों के अनुभव तथा ज्ञान भरी बातें चुराकर उन पर अपना रंग चढ़ाते हैं और संसार के सामने लेखक बनने का दम्भ रखते हैं । ये लेखक घर बैठे हुए दूसरों की पुस्तकों से लाभ उठाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं । भाषा-विन्यास की कला जानने के कारण वे अपने लेखों, कहानियों, उपन्यासों और निबन्धों को अत्यन्त मनोरंजक बना लेते हैं और उन की प्रसिद्धि भी उन से हो जाती है, किन्तु उन के व्यक्तित्व का विकास कदापि नहीं हो सकता है । वे रुपया भी भले ही कमा लें और उन के यार-दोस्त उन की डुग्गी भी भले ही पीटते रहें, किन्तु उस लेखक को उत्थान का पथ नहीं मिलता । उत्थान पथ पर अग्रसर होने के लिए लेखक को बड़ी तपस्या करनी पड़ती है और वह कठिन साधना द्वारा ही अपने आदर्श की सिद्धि करता है । भारतवर्ष में इस समय लेखकों की बाढ़ सी आ रही है । बेकारी के कारण बहुत से पढ़े-लिखे लोग लेखक बनने के लिए हाथ-पैर मार रहे हैं । बहुत से फिल्मों द्वारा धन और यश प्राप्त कर अपने जीवन को सफल मानने लग जाते हैं । वे यह समझते हैं कि लाख दो लाख रुपया पैदा कर लेना सफलता की ठीक निशानी है । परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में लेखकों के लिए ही सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति सच्ची कसौटी नहीं मानी जाती । असली सफलता मानवीयता और आत्मा के उत्थान में छिपी हुई है । जीवन का असली रहस्य आत्मिक उत्थान का मार्ग ही बतलाता है । जिन लोगों ने बड़े बड़े पोथे लिख दिए और उन से लाखों रुपए भी कमा लिए, किन्तु उन का जीवन मांस, शराब, व्यभिचार में खर्च होता हो और जो दिन रात झूठ बोलने और प्रपंच करने में समय बिताते हैं, वे भले ही शेखियां मार कर अपनी तसल्ली करलें और ऊँचे दरजे के साहित्यिक-कवि अथवा लेखक बनने का दावा करें किन्तु वे मेरी तुच्छ सम्मति में लेखन-कला के दिव्य-पथ से कोसों दूर हैं ।

लेखक के मार्ग में बड़ी कठिनाइयां हैं । यह महापुरुषता का मार्ग है । यह आत्मिक उत्थान की कुंजी है । लेखक को जानना ही चाहिए

कि उसे सत्य, शिव और सुन्दर के दर्शन करने और कराने हैं। उसे समझना ही चाहिए कि वह दूसरों के लिए जीवन-पथप्रदर्शक का काम देता है। उस की लेखनी से निकले हुए शब्द बड़े वजन-दार बहुमूल्य और अत्यन्त उपयोगी ही होने चाहिए। जो लेखक दिन भर सौ-दो सौ पन्ने काले करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार सैंकड़ों पुस्तकें प्रकाशित करवा कर ख्याति की कुदक्कियां लगाते हैं, वे अभागे जीवन के मधुर रस का पान नहीं करते। सांसारिक सुखों को भोग लेना अच्छा लेखक होने का चिन्ह नहीं, बल्कि सांसारिक सुखों का त्याग कर तपस्वी जीवन बनाना और आत्म दर्शन की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते जाना लेखन-कला का सच्चा वरदान है। "डाक्टर समाइल्स" ने अपने अमर ग्रन्थ "Duty" (कर्तव्य) और "Character" (सच्चरित्रता) लिखकर अपने आप को सदा के लिए यश का भागी बना लिया। उन के इन दो ग्रन्थों ने, असंख्य आत्माओं को अध्यात्मवाद का मार्ग दिखलाया और उन का जीवन सफल बनाया। यह दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें बार-बार पढ़ने से आनन्द ही आनन्द मिलता है और जी नहीं अघाता। डाक्टर "पाल-फारस" ने भगवान बुद्ध की जीवनी ऐसे सुन्दर ढंग से लिखी है कि उसे सदा पढ़ते रहने को जी चाहता है। वह पुस्तक देवी प्रेरणा से भरी हुई है। ऐसे यशस्वी लेखक ही सच्ची लेखन-कला के पंडित माने जाते हैं। झूठी-सच्ची कहानियां लिखकर अथवा अध्यात्मवाद को गालियां देकर जो लेखक बनने का दम भरते हैं और अपनी पुस्तकों की ख्याति का ढोंग करते हैं वे अपनी भूलों को जीवन के अन्तिम दिनों में स्पष्ट देखने लग जाते हैं, जब मृत्यु उन्हें दिखाई देने लगती है और संसार के भोग-विलास उन से छूटने लग जाते हैं।

लेखक बनने के लिए जीवन को तपस्या में ढालना पड़ता है। खुली आँखों से जगत् का निरीक्षण करना होता है। अपने विवेक से घटनाओं को तोलना पड़ता है। संसार भ्रमण कर प्रकृति और पुरुष का सीधा ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। अपने अनुभव-जन्म ज्ञान से ही मनुष्य सच्चा लेखक बनता है और उस के कहे हुए शब्द आकाश में गूंजने लगते हैं। जो लेखक मनसा, वाचा, कर्मणा अपने कथनों को एक सीध में लाकर लेख लिखते हैं, वे अपने शब्दों में दिव्य प्रकाश भर देते हैं जो कि जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं को सांत्वना देते हैं और इस प्रकार शान्ति फैलाते हुए पीछे आने वाले यात्रियों के प्रकाश-स्तम्भ बन जाते हैं।

अहो ! लेखन-कला का मार्ग बड़ा कठिन है। इस में बड़ी ज़िम्मेदारी भरी हुई हैं। यह फूलों का बिछौना नहीं, बल्कि कांटों का मार्ग है। जो लोग मौलिकता से भरे हुए विचार अपने पाठकों को देना चाहते हैं उन्हें मेरी नीचे लिखी कविता कण्ठाग्र कर लेनी चाहिए :—

रात की घड़ियां निरन्तर जाग कर,
गगन के तारे नहीं जिस ने गिने
दुःख से संतप्त हो जिस ने कभी,
कौर दो खाए नहीं आँसू सने—
आरा-ऊषा में नहीं जिसका कभी,
वस्त्र आहों से लगा हो भीगने—
वह हृदय है शून्य रचना प्रेम से,
चीज मौलिक क्या कभी उस से बने ?
मार्ग जीवन का छिपा है दुःख में,
विश्व रचना यही साहित्य है,
है हमारे पतन का इतिहास सुख,
दुःख से उत्थान होगा सत्य है।

****

ओम् प्रकाश भारद्वाज, ऐम. ए.

साहित्यकार—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

यदि हम यह मानकर चलें कि साहित्य समाज के ही अन्तर्भूत संघर्ष का परिणाम है और हर सफल साहित्यकार के अन्तस्तल में समाज अपने वामनरूप में अवस्थित होता है, तभी, वस्तुतः, हम समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रयत्व सिद्ध कर सकते हैं। फिर साहित्यकार चाहे किसी भी तत्त्व से अनुप्रेरित हो कर अपनी लेखनी हिलाए, वह सदैव सामाजिक भावना के रचनात्मक पहलुओं के अनुकूल ही होगा, प्रतिकूल नहीं और प्रत्यक्षतः चाहे वह विघटनात्मक ही प्रतीत हो। प्रेरणा का कारण अभाव हो सकता है, आत्मप्रकाशन हो सकता है, कामनापूर्ति, सौन्दर्य-प्रेम या आनन्दातिरेक हो सकता है। किन्तु इन में से किसी एक से अनुप्राणित हो कर साहित्य सृजन कर लेना ही प्रौढ़ता एवं गुरुता का परिचायक नहीं। इस के लिए लेखक की कृति में उन उदात्त, उच्च तथा वरिष्ठ तत्त्वों का समावेश नितान्त अनिवार्य है जो समाज के लिए उपयोगी तथा उन्नयनशील हैं। इसी से साहित्यकार की सृष्टि में सनातनता आएगी। ऐसा साहित्य देश काल की परिधि में सीमित हो कर भी असीम और चिरन्तन हो बैठता है।

अब प्रश्न उठता है कि वे तत्त्व कौन से हैं? इस के उत्तर के लिए हमें अधिक दौड़-धूप करने की आवश्यकता नहीं, क्यों कि जिस विषय को कूतने का हम ने साहस बटोरा है वह अपने में उन सभी तत्त्वों को समेटे हुए हैं जिस के कारण किसी साहित्यकार के साहित्य की इतिकर्तव्यता होती है। अभिव्यक्ति कौशल्य या वाग्वैदग्ध्य से ही कोई कृति शाश्वत नहीं हो जाती बल्कि एक अच्छी कृति का दायित्व यही है कि वह सत्य का उद्घाटन करे और मानवता की भित्ति पर अवस्थित हो।

स्वामी जी ने यद्यपि अपने वर्ण्य विषय को प्रधानतः केवल एक ही सन्देश से आपूरित किया है, किन्तु उस के उपस्थापन में भी एक तड़प,

एक टीस प्रतिभासित होती है और अपने महामन्त्र को संवेदनशील बना कर जन जन के हृदय द्वार तक पहुँचाने की अधूरी उत्कण्ठा। चाहे वे उन की "अनुभूतियां" हों, चाहे वह उन का "भारतीय स्वतन्त्रता संदेश" हो और फिर चाहे उन का हृदय "ज्ञान के उद्यान" में अठखेलियां करता फिरे।

कहा जाता है कि साहित्यकार अपनी परिस्थितियों का मानसपुत्र होता है किन्तु यह शतशः ठीक नहीं। वायु के झकोरे तभी आग की लपटें उभार सकते हैं यदि वहां पहले ही चिंगारी हो। भारत को स्वतन्त्र देखने की एक उत्कट इच्छा स्वामी जी में शुरु से ही विद्यमान थी। वे जहां भी गए उन की यह भावना बलवती ही होती गई। उन की "अनुभूतियां" नामक कविता संग्रह से यह प्रतिभासित हो जाता है कि "पंजाबिन माई की कुटियां" (इहालाबाद के पास झूसी में) की छत पर बैठे हुए वे अपने मन को ऊषः काल की "शीतल और मस्तानी समीर" की सरसराहट में और गंगा की चटुल तरंगों से तरंगित हो कर प्यार की किसी अधूरी साध में ग्रस्त नहीं हो जाते। बल्कि उन की विचार-विपुल कल्पना ऐसी परिस्थितियों में भी "गान्धी" जैसे पुनीत पुरुष के ही गुणगान करती है। जर्मनी की राहिन नदी को देख कर और वहां की रमणीय वाटिकाओं का भ्रमण कर के भी उन की विचार शृंखला आदि कवि बाल्मीकि, महात्मा बुद्ध और कविसम्राट् कालिदास की मौलिक देन के प्रति आभार प्रदर्शन करती रही। बाइडन (जर्मनी) के पास से गुज़रने वाली सड़क पर नैपोलियन द्वारा रूस को जीतने के लिए किए गए जघन्य अत्याचारों को स्मरण कर उन का खून खौल उठता है, और "कुचाल से हुई बरबादियों" के विरुद्ध उन का अन्तःकरण कविता बन कर फूट पड़ता है। यह मानव के लिए एक चेतावनी नहीं तो और क्या है? भारत में अंग्रेज़ों की उस समय की दुर्दान्त बर्बरता को चुनौति नहीं तो और क्या है?

"कोलोन का परिचय" नामक कविता में यद्यपि वे मेले का चित्रण कर रहे हैं किन्तु इस रोमांटिक दृश्य के पीछे उन के शरीर पर किए कपट और अमानवी व्यवहारों का नंगा नाच है। कितनी बेबसी है! पर फिर भी कितनी दृढ़ता है; कितनी उद्दामता है!

स्वामी जी की इन कविताओं में कबीर तथा गुरु नानक जैसी सरलता, निश्छलता और सर्वग्राह्यता लक्षित होती है। उन के निर्व्याज

व्यक्तित्व को यदि हम अपनी सन्त परम्परा से जोड़ दें तो हमें उन की कविताओं, निबन्धों तथा अन्य प्रकार के लेखों का तात्पर्य समझ में आ जाएगा। यदि आज महामना कबीर एवं गुरु नानक हमारे मध्य में होते तो वे वही करते जो स्वामी जी ने देश विदेश में घूम कर दिखाया। आगे आने वाली पीढ़ियां इन की सीधी साधी और सरल कविताओं से स्फूर्ति लेती रहेंगी।

भिन्न भिन्न छन्दों को अपना कर इन्हों ने पुरानी साहित्य परम्परा को कायम रखा। वह कौन सा प्रसिद्ध छन्द है जिस पर स्वामी जी ने अपना हाथ नहीं चलाया। दोहा, चौपाई, कुण्डलिया, लावनी, शिखरिणी सोरठा तो उन के मनभाते छन्द हैं। भाव के प्रस्फुटित होते ही मानों ये सारे "अहमहमिकता" की चीखो-पुकार करते प्रतीत होते हैं।

इन कविताओं को पृष्ठभूमि के समकक्ष रख कर परिव्राजक जी ने आधुनिक कवियों के लिए एक नवीन मार्ग खोला है। कविता जिस वातावरण की उपज है उसे उसी तरह पाठक के सम्मुख रख कर पाठक के लिए एक बहुत बड़ा उपकार किया है। "अनुभूतियां" की प्रत्येक कविता अपने आप में एक पूरी वनस्थली है जो आगन्तुक को अपनी मधुरिमा एवं निच्छलता के साथ साथ उस मिट्टी के प्रति भी प्यार उत्पन्न करने में विवश करती है जिस से उस का अंग स्फुटन हुआ है और जिस की गोद में वह पल्लवित हुई है।

सुलझी हुई प्रतिभा और विचारों की परिपक्कता केवल कविता कर लेने में ही अपने आप को कृतकार्य नहीं समझ सकती। यदि स्वामी जी के पौरुष स्वर को सुनना हो तो उन के निबन्धों की ओर पलटिए। आज से पच्चास वर्ष पूर्व भारत जिन आन्तरिक आँधियों से जर्जरित हो रहा था वे आज भी उस के कृश काय को खा रही हैं। अपने निबन्धों में इन्होंने इन्हीं समस्याओं को लिया है। यद्यपि ये सारे सामाजिक ही हैं किन्तु इन में एक सुस्थ एवं स्वस्थ लेखक की झलक है। निरी शब्दों की कलाबाज़ी नहीं। यदि एक ओर उन के लेखों में "क्रान्ति" की हुंकार है तो दूसरी ओर वे इस की सिद्धि के लिए "छुआछूत के भूत" को भी भगा देना चाहते हैं, ताकि सभी "क्रान्ति" में भर्ती किए जा सकें। यदि एक तर्फ़, उन में, राष्ट्र के संगठन के मूल तत्वों को संकेन्द्रित

करने की तड़प है तो दूसरी तर्फ एतदर्थ "परोपदेशे पाण्डित्यं" न दिखा कर साधुओं को भी इस साँझे कार्य के लिए तत्पर एवं जागरूक करना चाहते हैं। इन निबन्धों में केवल एक ही स्वर है जिस से ये स्वरित हैं और वह है—राष्ट्र भक्ति। "भारतीय स्वाधीनता सन्देश" और "ज्ञान के उद्यान में" में जितने भी निबन्ध हैं वे सभी इसी भावना से ओतप्रोत हैं।

निबन्ध एक अन्विति है। इस में आकर गद्य तथा पद्य के गुण मिल से जाते हैं। जहां इसे लिखते समय देश काल का ध्यान रखना आवश्यक है वहां इसे अकाट्य तर्क तथा हृदय की शक्तियों से सुसम्पन्न एवं रोचक बनाना भी आवश्यक होता है। स्वामी जी के निबन्ध इन गुणों के लक्षक हैं। इन के निबन्धों को पढ़ कर मुझे चार्लस लैम्ब स्मरण हो आता है। किस सहृदयता से ये पाठक के हृदय में घर कर जाते हैं यह एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है :—

मार्च का महीना था। सूर्य देव उदय हो चुके थे। कनखल के उस पार गंगा के किनारे खड़ा हुआ मैं जीवन के इस महान प्रश्न पर विचार कर रहा था। सोचते सोचते स्नान करने के लिए जल में पांव रखा। सुन्दर गोल गोल पत्थर जल की धारा में मुस्करा रहे थे। एक दो को उठा कर मैं ने देखा। सुन्दर, गोल गोल, गले में शुभ्र यज्ञोपवीत पहने साक्षात शालिग्राम। आह! इन्होंने ऐसी मनोहारिणी मूर्ति कहां से पाई ?

(जीवन स्फूर्ति)

कितने सरल शब्दों में जीवन के गहन प्रश्न को कह गए और फिर किस सहृदयता से सुलझा मारा।

स्वामी जी के निबन्धों में सर्वथा व्यास शैली का प्रतिपादन हुआ है। क्यों न होता। महर्षि व्यास के समान ज्ञान के भण्डार का मुक्तहस्त से दान जो करना था। पाठक भी तभी लेखक के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। कभी कभी बात बात में हास्य की छटा भी बखेर जाते हैं, जिस में तिक्तता की बजाय निच्छलता छलक उठती है।

स्वामी जी ने निबन्धों के हर प्रकार को अपनाया है। यदि विचार-आत्मक निबन्ध देखने हों तो "ज्ञान के उद्यान में" और "भारतीय स्वतन्त्रता सन्देश" ले लीजिए। विवरणात्मक और वर्णनात्मक निबन्धों के तो

स्वामी जी कुबेर ठहरे । यदि बैठे बैठे जर्मनी की राहिन नदी की उत्ताल तरँगों और मनोहारी वाटिकाओं को चूमना हो तो "मेरी जर्मन यात्रा" पढ़ लीजिए । यदि कैलाश पर्वत की धवल चट्टानों के साथ निर्भीक हो कर खेलना हो तो अपनी कल्पना को "मेरी कैलाश यात्रा" से साकार बना लीजिए । देखिए कहीं इन देशों की सैर की भूख आप के मन में तीव्र न हो जाए ! यदि मन में इन स्थानों के लिए ललक उठे पड़े तो प्रस्थान से पहले "यात्री मित्र" अवश्य पढ़ लीजिएगा तभी "नयी दुनियां के अद्भुत संस्मरण" इक्ट्ठे हो सकेंगे ।

"अमरीका भ्रमण" तो अमरीका में पैदल भ्रमण सम्बन्धी एक अनोखा उपन्यास ही है । इसे पढ़ कर स्पेनिश रोमांस लेखक सर्वेंटीस (१६०५) तथा इंगलिश उपन्यासकार फील्डिगं (अठारहवीं सदी) हमारे सामने साकार हो उठते हैं ।

वास्तव में यात्रा सम्बन्धी साहित्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य अभी तक कृपण ही है । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को छोड़ कर किसी ने भी अपने यात्रा अनुभव नहीं दिए । स्वामी जी की देन इस दिशा में सर्वप्रथम है । पंजाबी साहित्य में लाल सिंह कमला अकाली के द्वारा "मेरा विलायती सफर नामा" भी इस के बाद की ही देन है ।

यात्रा लेखों में केवल भौगोलिक चित्रण दे देना ही पर्याप्त नहीं होता । बल्कि इसे निजी अनुभूतियां, प्रकृति रमणीयता, और सामाजिक पक्ष से भी संघुटित करना अपेक्षणीय है । क्यों कि यात्रा करते समय ठोस सत्यों के दर्शन होते हैं, और कल्पना की झिल्लियां टूट जाती हैं । अनुभव बढ़ता है, सहनशीलता का दामन पकड़ना पड़ता है और स्थितिअनुकूल अपने आप को सुव्यवस्थित करने का गुण अपनाना पड़ता है । स्वामी जी की यात्रा साहित्य इस दृष्टि से भिन्न भिन्न राष्टों, समाजों और व्यक्तियों की व्यवहार पद्धतियों का एक जीता जागता चलचित्र है ।

स्वामी जी के यात्रा लेखों में एक गुण मुझे और लक्षित होता है—वह है मानवी भावनाओं का जागरण । यह ठीक है कि उन के यात्रालेख हमारा पथप्रदर्शन करते हैं, हमारी जानकारी में वृद्धि करते हैं । किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं । उन के लेखों से हमें यह भी ज्ञान होता है कि सारी पृथ्वी पर मानव का एक समान हृदय है । धन और ऐश्वर्य मनुष्य की मूल वृत्तियों को दबा तो सकते हैं किन्तु नष्ट नहीं कर सकते । विश्वविद्यालय की उच्चशिक्षा लेने के लिए विद्यार्थियों को अपने जीवन-

यापन के लिए कैसे जूझना पड़ता है ? मज़दूरी कितनी की महत्ता है ? वहां के निवासी अपनी जीवन-चर्या कैसे करते हैं ? यह सब कुछ उन के निबन्धों में भरा पड़ा है। इस से हमारे मन में दूसरों के लिए सहानुभूति एवं उत्प्रेरणा उमड़ पड़ती है। बस यात्रा साहित्यकार की इति-कर्तव्यता इसी में है।

अपनी "आत्मकथा" लिखने का सौभाग्य कुछ ही मनस्वियों को मिलता है। हिन्दी पाठकों के लिए यह एक बड़े सन्तोष की बात है कि इन्होंने अपने जीवन की संघर्षपूर्ण कहानी के बड़ी बारीकी से उरेहा है। हिन्दी साहित्य इस दृष्टि से भी रीता है। डा० राजेन्द्र प्रसाद, स्वामी श्रद्धानन्द, दीन दयालु, गुलाबराय और राहुल सांकृत्यायन आदि जैसे इने गिने महापुरुषों ने ही इस ओर प्रयास किया है। किन्तु इन आत्मकथा लेखकों में मैं स्वामी जी का नाम सब से ऊपर रखना चाहूंगा। यह इसलिए नहीं कि इन्होंने देश विदेशों का भ्रमण किया है। इसलिए भी नहीं कि इन्हें जीवन में बड़े कटु अनुभव मिले बल्कि इसलिए कि ये इतने लम्बे समय तक घ्येय-वादी बने रहे और इन के व्यक्तित्त्व ने स्वतन्त्रता सम्बन्धी सारी समस्याओं पर स्वतन्त्रत हो कर विचारा। किसी के पिछलगे नहीं बने और सदैव बुद्धिवादी और उपयोगितावादी बने रहे। फिर उस पर भी पाठक को अपना मित्र—नहीं नहीं सहयात्री बना कर चलाने वाली उन की सरल शैली जो कि नितरां मौलिक है और जिसमें हास्य और व्यंग अपनी करवटें लेते प्रतीत होते हैं।

इतना ही नहीं स्वामी जी की कुशल लेखनी ने देश-विदेश के अनुभवों से विभूषित और सच्ची घटनाओं पर अवलम्बित एक कहानी संग्रह—"देव चतुर्दशी" भी भारत-भारती को दिया है। इस की खास विशेषता इस बात में है कि जहां अन्य गल्प ग्रन्थ एक देशीय, जीवन के एक पहलू को लिए हुए, संकुचित क्षेत्र का चित्र-चित्रण करते हैं, वहां यह "देव चतुर्दशी" रूस, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका और भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में घटी हुई घटनाओं के आधार पर उपदेशप्रद कथाएं सुनाती है। "आश्चर्य जनक घाटी" वैज्ञानिक ढंग की कहानी है, जिसे जितनी भी बार पढ़िए जी नहीं अघाता। अन्य कहानियां—"गंगा कहार", "फ्रांसीसी फन्दे", "भेंट का भंवर", "कीर्ति कालिमा" और "हिन्दुस्तान की निशानी" आदि अत्यन्त रोचक कहानियां हैं। क्रान्तिकारियों की रोमांचकारी बातों का वर्णन "आत्म हत्या" में किया गया है। इस प्रकार की कहानियां हमारे साहित्य में कहां हैं ?

नानक चन्द, ऐम. ए.

राष्ट्रीय जागरण में स्वामी सत्यदेव का योगदान

सदियों से गहरी नींद में सोए भारत ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में करवट बदली। नेत्रोन्मीलन करते हुए उस ने अपने चारों ओर दृष्टि डाली और देखा कि भारत-सन्तान अज्ञानता के घनीभूत अंधकार में खोई हुई पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और नाना प्रकार की भावनाओं के गर्त में धंसी हुई है। सदियों की दासता ने उन्हें इतना निर्बल कर दिया कि उन में इन निम्न-भावनाओं के बीच से तनिक सा भी ऊपर उठकर सोचने की और अपने शुद्ध सनातन और शौर्य-वीर्य-पूर्ण स्वरूप को पहचानने की शक्ति नहीं रह गई थी। अस्तु, इस नेत्रोन्मीलन के पश्चात् उस ने अपनी अवशिष्ट शक्ति को संभाला और सहज और शान्त क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित की—इतनी शान्त और इतनी सहज कि सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। चोरों और लुटेरों का घर से भगाना लाज़मीं था और इस के लिये उस ने अपनी—"सहज पके सो मीठा" वाली नीति से काम लेना प्रारम्भ किया।

भारत के इस इनकलाबी दौर ने सामान्य जनता में जागृति लाने के लिये कवियों, साहित्यिकों और भांति भांति के समाज सुधारकों और नेताओं की सेना को सजाना शुरू किया। भारत की इसी प्रारम्भिक सेना के वीर सेनानी थे—श्री सत्यदेव जी परिव्राजक जिन्होंने अपनी अखण्ड तपस्या और महान् त्याग से जनता जनार्दन को जगाकर इस में जोश और नई जवानी का एक संचार करके उसे स्वतन्त्रता संग्राम के लिए तैयार किया। आप ने सन्यास का कठोर व्रत धारण कर के देश-देशान्तरों का भ्रमण किया। वहां के लोगों में स्वतंत्रता की भावना का अद्भुत उल्लास देखा और अपने देश में लौट कर पत्र-पत्रिकाओं और सत्साहित्य के सहारे समाज को जगाना आरम्भ किया।

स्वतन्त्रता के इस संग्राम में स्वामी जी की सेवाओं का मूल्यांकन करने से पूर्व उन के उद्देश्य को जान लेना भी असंगत न होगा । आप लिखते हैं "मेरा सिद्धान्त यह है कि न तो सभी पुरानी चीज़ें कल्याणकारी होती हैं और न हीं सभी नवीन वस्तुएं श्रेयस्कर होती हैं । बुद्धिमान पुरुष उन की उपयोगिता द्वारा ही उन के भले बुरे का निर्णय करते हैं ।" प्रत्येक वस्तु को और प्रत्येक बात को उस की उपयोगिता की तुला पर तोलने वाले परिव्राजक जी का दृष्टिकोण निःसन्देह सन्तुलित रहा और वे प्राचीन तथा नवीन विचारों में सन्तुलन की स्थापना करते हुए उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने में लीन हुए ।

परिव्राजक जी ने राष्ट्र में सांस्कृतिक चेतना लाने के लिये "तमसोमाज्योतिर्गमय" का नारा बुलन्द किया । इन की सूक्ष्म दृष्टि ने देख लिया था कि हमारे समाज की गुलामी का सर्वप्रथम कारण है अविद्या । फलस्वरूप आप ने समाज में विद्या की—ज्ञान की अखण्ड ज्योति जलाने के लिये मानव को पुकार पुकार कर कहना आरम्भ किया—मनुष्य को ईश्वर ने क्यों पैदा किया ? क्या इस का अभिप्राय था कि मनुष्य जगह जगह मारा-मारा फिरे ? क्या उस का यह मतलब था कि मनुष्य भूख से तड़प तड़प कर प्राण दे ? क्या परमात्मा ने मनुष्य समाज को इस लिये संगठित किया कि यहां मुट्ठी भर आदमी सारी मनुष्य समाज पर राज्य करें ? यदि ईश्वर ने मनुष्य को इस लिये उत्पन्न किया है कि वह इमानदारी से जीवन व्यतीत करता हुआ भी धूर्तों के हाथ से कष्ट उठावे, अदालतों में उस के साथ बेइन्साफियां हों, कुकर्मी मनुष्य उस के ऊपर आधिपत्य करें । यदि परमेश्वर ने मनुष्यों को इस लिये पैदा किया है कि वह अपने बाल-बच्चों का सन्ताप उठावें, उस की स्त्री को रहने के लिये जगह न मिले, उस को धार्मिक जीवन व्यतीत करने का अवसर भी प्राप्त न हो........ यदि ईश्वर ने मनुष्य को इस लिए पैदा किया है तो हम उस ब्रह्म को निर्दोष मानने के लिए तैयार नहीं ? †

स्वामी जी ने मानव समाज की जागृति के लिये, उसे जागृति का मूलमंत्र समझाने की कोशिश की और वह मूलमंत्र था—मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या है ? वह क्यों पैदा हुआ है ? क्या कष्ट झेलने के लिये ? नहीं, कदापि नहीं ।

---

† मनुष्य के अधिकार, पृष्ट २-३

दासता की शृंखला में बंधे समाज के ठेकेदार अपने चेले-चांटों के आश्वासन के लिये पूर्व जन्मों के कर्मफल---प्रारब्ध अथवा 'जैसा बोवो वैसा काटो' के सिद्धान्त का सहारा लिया करते हैं । स्वामी जी ने ऐसे धर्मपुजारियों को भी आड़े हाथों लिया । उन का कहना है कि "जो उपदेशक हम को ऐसे ऐसे उपदेश देते हैं उन को मनुष्य समाज के अन्यायों का अनुभव-जन्य ज्ञान नहीं । यदि परमात्मा दोष से रहित है और उस की बुद्धि में कोई भी त्रुटि नहीं तो वह कभी भी पुष्ट और नीरोग शरीर मनुष्यों को भूख से मरने के लिए पैदा न करता...... आवागमन के सिद्धान्त की इस प्रकार झूठी व्याख्या करना और सन्मुख होते हुए अन्याय को ही देख कर पूर्व जन्म का ढकोसला जड़ देना--केवल ऐसे ही महात्माओं का काम है जिन की सर्व-साधारण के साथ कोई भी सहानुभूति नहीं । जो केवल अपने ही स्वार्थ को देखते हैं ।"

अपने व्यक्तित्व को भूले हुए समाज में व्यक्तित्व की स्थापना मुर्दा शरीर में रूह का डालना निःसन्देह एक महान् कार्य है । नवीन चेतना के लिये विकासोन्मुख इस आरम्भिक काल में---मनुष्य कौन है ? उस का इस दुनियां में क्या कर्त्तव्य है ? उस के विकास का सीधा और सही रास्ता कौन सा है, उस रास्ते पर चलने के लिये हम कितने स्वतंत्र हैं, उस के अधिकार क्या हैं आदि प्रश्नों की सही और विस्तृत-व्याख्या प्रस्तुत करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक जी ने उस तिमराच्छन्न युग में मानवता की और विशेषतः भारत की, कितनी महान् सेवा की है, मेघावी पुरुष इस का स्वयं अनुमान लगा सकेंगे ।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं स्वामी जी का दृष्टिकोण मध्यवर्ती रहा है । उन्होंने उपयोगिता के माप दण्ड को सामने रखते हुए प्राचीन विचारधारा को नया चोला प्रदान किया, भूले हुए समाज के सम्मुख उस की नई व्याख्या प्रस्तुत की । गीता में भगवान कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि 'कर्मण्येव अधिकारस्ते" अर्थात मानव का अधिकार है कि वह कर्म करे । स्वामी जी ने इसी सिद्धान्त वाक्य को नए रूप में प्रस्तुत किया--"मानव कर्म करने में स्वतंत्र है ।" और तत्कालीन समाज को इस नवीन रूप की आवश्यकता भी थी । एक ओर तो समस्त राष्ट्र विदेशियों के पंजे में आबद्ध था और दूसरी ओर समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग समाज के ही अत्याचारों से आक्रान्त था---धनी लोग गरीब किसानों का खून चूस रहे थे । उन्हें अपनी मनमानी का शिकार बनाते थे, बेगार

में जोतते और इस के इलावा सुवर्ण जातियां हरिजन भाइयों को निम्न-वृत्तियों में ही लगाए रखने के लिए उत्सुक थीं । ऐसी स्थिति में यह मान भी लिया जाये कि विदेशी आक़ा देश को ज्यों का त्यों छोड़ कर चले जाते तो भी जब तक इन दलित वर्ग तथा श्रेणियों का उद्धार नहीं होता, देश को सही अर्थों में स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता । समाज की मूल भावना को बदलना, उस की संस्कृति को नए मोड़ पर और नई दिशा की ओर ले जाना कोई आसान काम नहीं । यह काम एक व्यक्ति का भी नहीं हुआ करता । खैर, जिन जिन महानुभावों ने इस सुप्त राष्ट्र को जगाने और उस के समाज को एक नई दिशा की ओर सचेत होकर चलने का संकेत किया, संकेत ही नहीं प्रत्युत उसे झकझोर कर जगाया और प्रशस्त पथ पर चलने के लिये उसे बाध्य किया, उन में स्वामी जी का प्रमुख स्थान है । आप ने वितंडावादियों के प्रारब्ध को पोल खोली और योरूप की गुलामी की प्रथा को विस्तारपूर्वक समझाते हुए बताया कि यदि हमारे दलित वर्ग के सामाजिकों को स्वतंत्रता पूर्वक कर्मक्षेत्र में कूदने का अवसर प्रदान किया जाए तो वे भी निःसन्देह अपनी योग्यता का जौहर दिखा कर देश को चार चांद लगा सकते हैं । आप ने सोती हुई जाति के कानों में शंखनाद करते हुए कहा—"मनुष्य कर्मों के फलों का जिम्मेदार नहीं, केवल कर्मों का जिम्मेदार है । जब परमात्मा ने उसे कर्म करने में स्वतन्त्र बनाया है और यह आज्ञा दी है कि बेगारी में काम लेने वाले का विरोध करना चाहिए, तो मनुष्य को कदापि बेगार रूपी अन्याय को चुपचाप सहन कर लेना उचित नहीं । जीवन एक संग्राम है । यदि कर्तव्य पालन में अस्तित्व भी मिटता है । तो भी परवाह नहीं । भगवान के सम्मुख न कोई नीचे है और न कोई ऊंचा, केवल स्वार्थी मानव ही इस प्रकार के सामाजिक भेदभाव के लिए उत्तरदायी है ।"

कर्म की स्वतन्त्रता के साथ सम्बद्ध एक और प्रश्न है और वह है "स्वत्व-अधिकार" । स्वामी जी लिखते हैं—"स्वत्व ! भारत-सन्तान के लिये नया शब्द है । आज बीसवीं शताब्दी में स्वत्वाधिकार की महिमा हम अपने देश-बन्धुओं को बतलाने लगे हैं और वे समझाने भी इस लिये चले हैं कि स्वत्वाधिकार की चेतना के बिना कर्म की स्वतन्त्रता निरर्थक सिद्ध होती है । ये दो प्रश्न एक दूसरे के पूरक हैं । "जैसा बोवोगे वैसा काटोगे" के सिद्धान्त ने सामान्य जनता को एक दम कर्महीन बना रखा था, विशेषत: जब कि उसे अपने बोये हुए को भी काटने की इजाजत न

थी । "धन की उत्पत्ति के दो मुख्य कारण हैं—भूमि और परिश्रम । मूलधन आदि जो कुछ अन्य साधन हैं वे गौण हैं । भूमि ईश्वर प्रदत्त है । किसी का इस पर स्वत्व नहीं, सबके इस पर समान अधिकार हैं । हम को यह जायदाद ईश्वर से मिली है । धन की उत्पत्ति का दूसरा कारण परिश्रम है । इसी परिश्रम पर सारे मनुष्य समाज का जीवन निर्भर है..परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि न्यायानुकूल पथानुगामी जो परिश्रम करे उस के फल को उस का स्वत्व कहेंगे ।" पर समाज पर प्रभुत्व जमाने वाले लोगों ने क्या स्वत्व की इस प्रकार की व्याख्या सुनी और समझी है ? क्या उन्होंने लहू-पसीना एक करने वाले कृषक को टुकड़े २ के लिए मोहताज नहीं किया है ? इस का नाम चोर-बाज़ारी है और चोर-बाज़ारी करने वाले इसी प्रकार के लोग समाज के वास्तविक शत्रु और खून चूसने वाली जोकें हैं । यदि सोने वाले जाग उठें और इस प्रकार के चोर-लुटेरों से अपना पीछा छुड़ा सकें तो इस में कोई संदेह नहीं कि अपने पांव पर खड़ी होने वाली जाति, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने वाली जाति किसी गैर को अपने खून पर अधिक समय तक नहीं पलने देगी । यह श्री स्वामी जी की मूल भावना है और इस के लिये था उन का समस्त भागीरथ प्रयत्न जिस में उन्हें अपने सहगामियों के साथ आशातीत सफलता मिली है । आप व्यक्ति के परिश्रम के अनुसार ही प्राकृतिक भोग पदार्थों की व्यवस्था करने को श्रेष्ठतम स्वत्वाधिकार रक्षा का सिद्धान्त मानते हैं । 'जो परिश्रम करे, कष्ट उठावे, मेहनत मजदूरी से न भागे, जो अपनी बुद्धि से भोगों की वृद्धि के सामान पैदा करे, वे मनुष्य ही भोगों के भागी हो सकते हैं । जिस को जितना मिले, उस को उस की मेहनत का फल मिले और वह मेहनत न्यायानुकूल हो ।' यह है स्वत्वाधिकार की व्याख्या ।

स्वत्वाधिकार की रक्षा कैसे की जाए ? "प्रकृति माता का पहला उपदेश स्वत्व रक्षा है । (Self Preservation is the first Law of Nature) यह कोई सीखने अथवा सिखाने की बात नहीं—कुदरत का नियम है । जो आप के स्वत्वाधिकारों पर डाका डाले उस का डट कर मुकाबला करो । यही भगवान की—अपने इष्ट देव की सब से बड़ी बंदगी है और यही रोज़ा नमाज़ है । "अन्याय का विरोध ईश्वरीय आज्ञा का पालन है (Resistance to tyranny is an obedience to God)" यह है उस अमृत पूर्ण संदेश

का सार जिस के सहारे स्वामी जी ने अपनी उत्पीड़ित, दलित और सदियों की गुलामी के शिकंजे में जकड़ी जनता को जगाया ।

स्वत्वाधिकार और उन की रक्षा के बाद स्वामी जी ने समान अधिकारों के सिद्धान्त पर बल दिया है । भगवान की सृष्टि में सभी छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन समान हैं । सभी इनसाफ के हकदार हैं और रियायत किसी के साथ नहीं होनी चाहिये । "मनुष्य समाज का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जीवनोद्देश्य की सिद्धि के लिये बराबर अवसर सब सभ्यों को मिलने चाहियें । इस का नाम सामाजिक समतुल्यता है । इस के अनुसार समाज की सृष्टि में सब सभ्य बराबर हैं । जो समाज इस सिद्धान्त पर चलता है, उस की उन्नति बिना किसी रुकावट के ही होती चली जाती है । सब सभ्य एक दूसरे की सहायता करते हुए चलते हैं । उन में भ्रातृत्व भाव की सिद्धि होती है । स्वामी जी के अनुसार मनुष्य का मोक्ष का सीधा और सच्चा मार्ग भी यही है कि वह सब की उन्नति में अपनी उन्नति जाने और सच्चा साधु, महात्मा बैरागी वही है जिस ने समाज, देश, जाति के दुःखों को दूर करने में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है । आप की मूल शिक्षा है कि 'समाज के सब सभ्यों को बराबर समझ उन के साथ न्याय का वर्ताव करो, उन को उन्नत करने की चेष्टा करो, उन के जीवन को सुखी बनाओ, उन से प्रेम करो, उन के स्वत्व मत छीनों, उनकी निर्बलताओं का नाजायज़ फायदा मत उठाओ, उन के साथ सहानुभूति करो ।"

अगली बात है वाक्-स्वतंत्रता । भगवान ने हमें बोलने को शक्ति इस लिये ही प्रदान की है कि हम सत्य का उद्घाटन कर सकें । विदेशी शासन में वाक्-स्वतन्त्रता कहां ? वाक्-स्वतन्त्रता का घोर शत्रु है अन्याय । 'समाज के किसी अंग की, किसी दशा के अन्तर्गत, जब वाक् स्तन्त्रता छिन जाती है तो समझ लेना चाहिये कि अन्याय के गुप्तचर समाज में घुसकर शरारत कर रहें हैं । लोग वहां इशारों से बातें करने लगते हैं, वे घुसर-घुसर करने की आदत डालते हैं, उन का साहित्य दोरंगा हो जाता । लेखों, कविताओं, व्याख्यानों में उन के नेता, सत्य बातें कहने से डरते हैं । खुशामदी, चापलोसी, मक्कारी, दगाबाजी ऐसे दुष्टों की कदर होने लगती है । भीरू, कायर, बड़े मिआं बन बैठते हैं, धर्म अधर्म का रूप ग्रहण कर लेता है । असली धर्म से लोग भूत की तरह भागते हैं और बातूनी धर्म का भूत, चतुर्दिक् व्यापक हो जाता है ।'

उस ज़माने में गुरुडम का बोल-बाला था और वाक्-स्वतंत्रता गुरुडम की घोर शत्रु है। जिस समाज में 'अन्धनैव नीयमाना यथान्धाः' की परिपाटी है वहां के लोग वाक्-स्वतंत्रता की महत्ता नहीं जान सकते। विचार स्वातंत्र्य उन के लिये अर्थहीन है। वे तो केवल 'आक़ा वाक्य प्रमाण' के अनुसार जी-हज़ूरी को ही महत्त्व प्रदान करते हैं। ऐसे देश को जगाना और समाज को ऐसी कुत्सित वृत्तियां त्यागने के लिए कहना और विशेषकर जी-हज़ूर कहलाने वाले आक़ाओं के सामने ऐसा कहना और गरज तरज कर कहना वस्तुतः बड़े हौंसले का काम है। यहां यह भी स्मरण रखने वाली बात है कि महात्मा जी के ये उपदेश सन् १९१२ के आसपास के हैं। उस समय समाज सुधार और जागृति की लहर इतनी प्रखर और तीव्र होकर आगे बढ़ने नहीं लगी थी। यह शुरु शुरु का जमाना है जब कि महात्मा गांधी जी अभी दक्षिणी अफ्रीका में काम कर रहे थे और स्वामी जी के समान सच्चे देश भक्त और सेवक समाज को उन्नत बनाने में और महात्मा जी का मार्ग प्रशस्त करने में दत्त-चित्त थे। ऐसे समय लोगों की नसों में, उनकी रग रग में दासत्व के प्रतिकार स्वरूप इन्जैक्शन लगाना वस्तुतः कर्मवीरों और सच्चे देश सेवकों का ही काम था।

इस सिलसिले में बाबा जी की अन्तिम बात है शासनाधिकार। 'स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है'—तिलक जी के वाक्य खंड को घर घर में पहुंचाना और उस को नए से नए रूप में प्रस्तुत कर के लोगों को इस के लिये तैयार करना तिलक के सच्चे अनुयायियों का ही कर्त्तव्य था। स्वामी जी फरमाते हैं कि "केवल खुदा हमारा हाकिम है"। मानव समाज यदि अपनी सुव्यवस्था के दृष्टिकोण से किसी प्रकार के राज्य की कल्पना कर भी लेता है और वह किसी व्यक्ति विशेष को अपना राजा मान भी लेता है तो उस राजा का कर्त्तव्य है कि वह शासितों की इच्छा द्वारा ही न्याययुक्त शक्तियां ग्रहण करे। दूसरे शब्दों में शासितों को शासन सम्बन्धी मामलों में अपने विचार व्यक्त करने का पूरा-पूरा अवसर मिले। उन की कोई आवाज हो, उन का कोई प्रतिनिधि हो जो उन के हकों की रक्षा करता रहे, देखभाल करता रहे। तभी शासन व्यवस्था सुरुचिपूर्ण और न्यायसंगत कहला सकती है।

स्वामी जी ने शासन अधिकार को हृदयंगम करवाने के लिये समाज क्या है और समाज के शासन की आवश्यकता क्यों है और कौन इस का

शासक हो सकता है आदि बातों को विस्तार से समझाया है। अंग्रेजी शासन की कुत्सित वृत्ति की व्याख्या उन ही की पंक्तियों में देखिए—"ऐसे समाज में जहां, राजा, नेता, नवाब, अमीर, कैसर आदि उपाधियों से विभूषित सदस्य का निरंकुश अधिपति हो, वहां के लोग सिर्फ भेड़ों की भांति जीवन व्यतीत करते हैं। फसल पर उन का नेता उन की ऊन उतार लेता है।" तत्कालीन अवस्था का इस से स्पष्ट चित्रण और क्या हो सकता है। बाबा जी आगे लिखते हैं—"विद्वान नीतिज्ञों ने शासनाधिकार को सब अधिकारों का केन्द्र माना है। इसी अधिकार की रक्षा से सब अधिकारों की रक्षा होती है। यह समाज रूपी चक्र की नाभि है। जिस पर सब अधिकार आश्रित हैं (अधिकार जिन का दिग्दर्शन पीछे करवाया जा चुका है)। समाज में शासन विभाग खुलने से समाज के सदस्यों के झगड़ों का फैसला, सामाजिक नियम, सामाजिक खर्च की व्यवस्था, सामाजिक शिक्षा का प्रबन्ध आदि सब काम शासन के आश्रित हो जाते हैं। इसलिये शासनाधिकार बिगड़ने से सब काम चौड़ हो जाते हैं।"

ऊपर की कतिपय पंक्तियों में हम ने स्वामी सत्यदेव परिव्राजक जी के राष्ट्रीय जागरण में योगदान का संक्षिप्त परिचय मात्र दिया है जो आप सन् १९१२ के आस पास ले कर भारत के स्वतंत्रता-दिवस तक निरन्तर देते चले आए हैं।

****

गुरुदत्त शर्मा, एम. ए.

दार्शनिक स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

विश्व-विख्यात स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। आप साहित्यकार, विश्व-यात्री, राष्ट्रउन्नायक, गम्भीर तत्व-विचारक एवं दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। आप ने साहित्य के प्रत्येक अंग पर लेखनी उठा कर मां भारती के भंडार को समृद्ध किया। आपने हिन्दी साहित्य को आत्मकथा, यात्रा-संस्मरण, निबन्ध, कहानी तथा कविता के रूप में लगभग तीस रचनाएं प्रदान कीं, जिन के लिए हिन्दी-साहित्य इन का चिर-ऋणी रहेगा। प्रस्तुत निबन्ध में हम आप के दार्शनिक पक्ष पर विचार करेंगे।

धर्म एवं दर्शन का भेद बताते हुए डाक्टर राधाकृष्णन जी ने कहा है:—

Philosophy is an enquiry into the nature of life and of existence. We have two ways of dealing with reality. One starts and ends with revelation and tradition. We call it religion. The second depends on free exercise of reason and thought and it is called Philosophy.

अर्थात् दर्शन जीवन एवं जगत के स्वरूप की जांच का नाम है। तत्व-विचार के दो मार्ग हैं। एक तो उद्बोधनों तथा परम्पराओं से प्रारम्भ हो कर इन्हीं पर समाप्त हो जाता है जिसे हम धर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं। दूसरा मार्ग तर्क तथा विचार के स्वतन्त्र उपयोग पर निर्भर है। उसे दर्शन कहा जाता है।

"अनन्त की ओर" तथा "ज्ञान के उद्यान" नामक अपनी दोनों कृतियों में स्वामी जी ने दर्शन तथा अध्यात्मवाद का विशद-विवेचन किया है। स्वामी जी "अनन्त की ओर" नामक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं :—

"जब मैं अपने प्रेमी पाठकों से इस की (अध्यात्म-तत्व पर रचना) माँग को सुनता, तो सोचता था, कि किस प्रकार हिन्दी भाषा-भाषियों के सामने अपने ऐसे अनुभवों को सरल भाषा में भेंट करूं।" इसी प्रेरणा से आपने हिन्दी में दर्शन साहित्य का सृजन किया।

स्वामी जी के दार्शनिक व्यक्तित्व के निर्माण में स्वामी दयानन्द, मेज़िनी तथा महात्मा गांधी जी का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। इन की कृतियों पर उपनिषदों, शास्त्रों तथा श्री मद्‌भगवद्‌गीता के परिशीलन एवं चिन्तन मनन की छाप स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

दर्शन के सम्बन्ध में स्वामी जी उपयोगितावादी (Utilitarian) हैं। वे ऐसे अध्यात्मवाद को पसन्द नहीं करते जिस का जगत् और जीवन से सम्बन्ध न हो। दीन-दुनिया से अलग-थलग हो कर योग-साधना करना उन्हें नहीं भाता। छायावाद और रहस्यवाद के लटके उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं होते। आपने उपर्युक्त रचना "अनन्त की ओर" नामक पुस्तक की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है कि आप के लिए दिमाग़ी ऐयाशी की पुस्तकें तथा कविताएं तनिक भी महत्व नहीं रखती। साहित्य को भी वे मानवोत्कर्ष का साधन मानते हैं। जो भाषा और साहित्य उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, जीवन की गुत्थियों को नहीं सुलझाता, मनोवैज्ञानिक चमत्कारों का प्रतिपादन नहीं करता तथा सत्यज्ञान की प्राप्ति में सहायता नहीं देता, वह भाषा और साहित्य आप के लिए निरर्थक है।

जीवन के यथार्थ स्वरूप का परिचय देते हुए आपने संसार की अनित्यता के समर्थकों का खण्डन किया है। वे श्रीधर पाठक के "जगत सच्चाई सार" नामक कथन से पूर्णतया सहमत हैं। सत्यब्रह्म की रचना कभी असत्य एवं अनित्य नहीं हो सकती। परलोक या स्वर्ग को वे काल्पनिक मानते हैं, जिस की कल्पना तथाकथित दुःखों से आश्रय पाने के लिये ही मानवों ने की। भोगवाद के सिद्धान्त "यावज्जीवेत सुखं जीवेत" और खाओ पीओ तथा मौज उड़ाओ" आदि की भर्त्सना में भी वे पीछे नहीं रहे। वे संसार को नित्य, जीवन को मंगलमय तथा शरीर को आत्मा का मन्दिर मानते हैं।

दुःखों के बारे में स्वामी जी की धारणा यह है कि विधाता के मंगलमय विधान में दुःख नाम को कोई वस्तु हो नहीं है। प्रकृति माता के नियमों की अवज्ञा के फलस्वरूप मिलने वाले दंड को ही लोग दुःख का नाम दे देते हैं। प्रकृति के शाश्वत नियमों के प्रभाव में भेदभाव की गुंजायश हो नहीं है। प्रकृति के अनुकूल चलने वाला व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माण स्वयं कर सकता है। वे धर्म के लिए निःश्रेयस (पारलौकिक कल्याण) को अपेक्षा अभ्युदय पर अधिक बल देते हैं।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की स्वामी जी ने तीव्र निन्दा की है। परमार्थी का दृष्टिकोण परोपकारी सर्वांगपूर्ण तथा आशावादी होता है, जबकि इस के विपरीत स्वार्थी का सीमाबद्ध तथा अदूरदर्शी होता है। स्वामी जी के अनुसार स्वर्ग, बैकुंठ या विष्णुधाम नहीं। स्वर्ग से उन का अभिप्राय समता, एकरसता, न्यायशीलता और प्रेम से है। वे भेद-बुद्धि को नरक के साथ सम्बन्धित करते हैं।

"विश्व के सर्वोत्कृष्ट तथ्य" नामक लेख में स्वामी जी ने इस बात का उल्लेख किया है कि समस्त ब्रह्माण्ड के पीछे एक संचालिका अनन्त जीवन शक्ति काम कर रही है। इसी जीवनदायिनी शक्ति तथा चमत्कारिक ज्योति का प्रादुर्भाव सब पदार्थों में होता है। यही आधारभूत अनन्त स्रोत ब्रह्माण्ड में सद्गुणों का प्रदर्शन करता है। इस ब्रह्माण्ड में चल रहा मंगलमय ब्रह्मा-चक्र महान् नियमों पर आधारित हो कर क्रियाशील है। इसी अनन्त चैतन्य शक्ति को ही ईश्वर कहा जाता है जो कि सर्वव्यापक, प्रकाशवान, निराकार, शुद्ध बुद्ध आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है।

स्वामी जी ने ब्रह्मज्ञान की दोनों धाराओं—अद्वैतवाद तथा द्वैतवाद का सरस सामंजस्य स्थापित किया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत कर के उन्होंने इस विषय को और भी स्पष्ट किया है :—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ :,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

अर्थात् परमेश्वर सब प्राणियों में अन्तरात्मा के रूप में सर्वव्यापक है। वह निर्गुण प्रभु कर्म-संचालक, चैतन्य-स्वरूप साक्षी है।

मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है इस अनन्त शक्ति के साथ तादात्म्य। मनुष्य जीवन की सफलता आत्म-बोध अर्थात् निजी स्वरूप पहचान लेने में है। स्वामी जी ने मानव को "अमृतपुत्र" की पदवी प्रदान की है। इसी नाते हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम ईश्वरीय गुणों का विकास करें। सद्गुणों के विकास से ही अखण्ड ज्योति की अनुभूति हो सकती है। व्यक्तित्व की यही उपलब्धि स्वामी जी की दार्शनिक चेतना का उद्देश्य है।

"देवता" शब्द का लक्षण बताते हुए स्वामी जी कहते हैं कि वह ऐसा देहधारी मानव है जो प्रभु एकता की अनुभूति इस दर्जे तक कर ले कि ब्रह्मज्ञान की अविरल धारा उसके मन-मन्दिर में बहने लगे। स्वामी जी के मतानुसार इस देवत्य-पद-प्राप्ति के मार्ग में हमारे पांच शत्रु—अस्मिता, अविद्या, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश बाधक हैं। सुख और शान्ति का एकमात्र उपाय है अनन्त शक्ति के साथ सामंजस्य।

जगत की सृष्टि के विषय में स्वामी जी का कहना है कि पहले सारा ब्रह्मांड बीजरूप विचार के रूप में नियन्ता के मस्तिष्क में रहा होगा। इसी प्रकार हम अमृतपुत्र मानव भी आत्मिक साधनों द्वारा निर्माण-शक्ति का सामर्थ्य रखते हैं। इस प्रकार अदृष्ट कारणभूत होता है और दृष्टि कार्यरूप होता है। अदृष्ट अनादि है तथा दृष्ट परिवर्तन-शील और अस्थायी है।

स्वामी जी ने "Like attracts like" अर्थात् समान वस्तु अपने सदृश्य पदार्थ को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—के सिद्धान्त का बड़ा विशद विवेचन करके यह सिद्ध किया है कि हम अपने मनोबल द्वारा आकाश में काम कर रही विचारशक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं। इस तरीके से हम अपनी जीवन-यात्रा में सत्य, शिव और सुन्दर तत्वों की अवतारणा कर सकते हैं।

जीवन की अमरता की चर्चा करते हुए स्वामी जी का कथन है कि जीवन-धारा का गतिरोध नहीं होता। हो सकता है कि वह किसी अन्य रूप में बहने लग जाए परन्तु वह अविरल गति से अवश्य बहती रहती है। चूंकि हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, इसलिए हम में उन्नति तथा अवनति—दोनों की सामग्री विद्यमान है। महापुरुषों की मुक्तात्माएं प्रेरणा दे कर सत्कार्यों में हमारी सहायक होती हैं।

भारतीय विचार धारा की परम्परा के अनुसार स्वामी जी का भी यही मत है कि हिंसा तथा बुराई का प्रत्युत्तर भलाई, अहिंसा, प्रेम तथा सत्य-व्यवहार से देना चाहिए, यतः ईश्वर सत्य और प्रेम का स्वरूप है। इसी मार्ग में सज्जन की विशिष्टता निहित है। प्रेम में अद्भुत माधुर्य और चमत्कारिक शक्ति है। मत-मतान्तरों के खंडन मंडन के स्वामी जी पक्षपाती नहीं। वे सर्व-धर्म-समानत्व का समर्थन करते हैं। "एकोहि सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"—अर्थात् एक ही सत्य का प्रतिपादन

विभिन्न विद्वान भिन्न भिन्न रीतियां से करते हैं। हां, उन का यह मत अवश्य है कि महापुरुषों की महानता अपने युग में ही होता है—सभी युगों में नहीं। आप का उपदेश मुख्य रूप से यह है कि सत्य ज्ञान के रत्नों का संचय करो क्योंकि वही तुम्हारी सच्ची निधि है जिसे तुम्हारे साथ जाना है। अहंकार से बचने के लिए स्वामी जी उपनिषद् से निम्नलिखित उपदेश देते हैं :—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

अर्थात् जो कहता है कि मैं नहीं जानता हूं वही जानता है और जो कहता है मैं जानता हूं वह कुछ नहीं जानता। इस प्रकार स्वामी जी ने "अनन्त की ओर" अग्रसर होने के लिये उपदेश करते हुए गम्भीर दार्शनिक तत्वों की विवेचना की है तथा सामाजिक जीवन की उपेक्षा भी नहीं की।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में स्वामी जी की यह धारणा है कि मनोविज्ञान के चमत्कारों के कारण इस का अध्ययन विशेष महत्व रखता है। दृढ़ इच्छाएं महान् शक्ति रखती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, शंका, अविश्वास आदि मानवीय शत्रुओं से हमें अपना पिंड छुड़ाए रखना चाहिए। यही मानसिक आंधियां ही तो शारीरिक व्याधियों का रूप धारण करती हैं।

इसलिए वेद का आदेश है "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु"— कि मन में शुभ संकल्पों को धारण करो। श्रद्धा एवं विश्वास का सम्बल ग्रहण किए रहना चाहिए। गीता का भी आदेश है:— "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः" श्रद्धावान ही सत्यज्ञान प्राप्त करता है। "संशयात्मा विनश्यति" के अनुरूप संशयात्मा उन्नति को प्राप्त नहीं होता। स्वामी जी आन्तरिक ज्योति (Intuition) को छटी ज्ञानेन्द्रिय का नाम देते हैं। उन्होंने अन्तरात्मा की आवाज़ की ओर कान धरने का उपदेश दिया है।

हिन्दी में अनूदित दार्शनिक साहित्य की कमी नहीं। मौलिक दार्शनिक साहित्य की कमी अवश्य अखरती है। स्वामी जी ने इस अभाव की पूर्ति कर के हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है जिस के प्रति हिन्दी साहित्य उन का सदैव आभारी रहेगा।

****

स्वामी सत्यदेव जी की ऐतिहासिक गुफा

सत्येन्द्र कुमार तनेजा, एम्. ए.

सत्यदेव परिव्राजक—एक परिचय

पंजाब की धरती ने कई लाल पैदा किए हैं जिन पर केवल इस प्रदेश को ही नहीं, सारे भारत को गर्व है। सत्यदेव परिव्राजक उन में से एक हैं। उनका जीवन समाज का जीवन रहा है; उनकी आत्मा में देश की आत्मा का स्पंदन मिलता है। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्व इतिहास तथा काल की सीमाओं से परे है। वे स्वयं मूर्तिमंत आदर्श हैं जिनका प्रकाश आने वाली संतति को स्वतंत्र चिंतन कर्त्तव्य, निष्ठा तथा आस्तिकता का ध्येय प्रस्तुत करता है।

सत्यदेव जी परिव्राजक का जन्म लुध्याना के प्रसिद्ध मुहल्ले 'नौघरा' में थापर खतरियों के यहां १८७६ में हुआ। इन के परदादा अमरसिंह केशधारी थे, परन्तु उन के लड़के रूपचन्द ने शैवमत की दीक्षा ले ली थी। सत्यदेव जी के तीन भाई और दो बहने थीं। सब से बड़े भाई लाला केदार नाथ लाहौर में वकालत की तैयारी करते थे। छोटे भाई शिवराम बड़े मेधावी एवं श्रेष्ठ खिलाड़ी थे। उन से छोटी बहन शिव देवी भी बड़ी विदुषी थीं। उन से छोटी बहन परमेश्वरी, उन से छोटे स्वयं सत्यदेव जी और सब से छोटे भाई जगन्नाथ थे। इन के पिता मास्टर कुंदनलाल जी का अधिकांश जीवन बाहर के स्कूलों में गुज़रता था। वे सनातन धर्मी-विचारों के व्यक्ति थे पर स्वभाव के बड़े कठोर एवं उग्र, यह प्रवृत्ति सत्यदेव जी में भी विरासत में आई मिलती है।

वैसे तो इन की शिक्षा मुहल्ले के मुसलमान 'फीदी पाधा' के पास शुरु कर दी गई थी परन्तु उस का नियमित आरम्भ लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल से हुआ। इस तरह परिवार के लालन-पालन का भार इन की मां पर था जो बड़ी सरल, ममताप्रिय एवं उदार थीं। इन के बड़े भाई आर्य-समाजी विचारों के व्यक्ति थे। डी० ए० वी० स्कूल में अध्यापकों के निकट सम्पर्क से इन्होंने स्वामी दयानन्द का जीवन-

चरित और सत्यार्थ प्रकाश का कई बार अध्ययन किया । अल्पायु के होते हुए भी इन में पर्याप्त सूझ और प्रतिभा का विकास हो चुका था । आर्यसमाज में तो जाते ही थे, शास्त्रार्थों आदि में बड़ा सक्रिय भाग लेते । इन का मन ऊंची उड़ानें मारने लगा, घर के बंधनों से छटपटाने लगे, सामने स्वामी दयानंद का आदर्श था ही । इन्हें निश्चित् सा हो गया कि इस माया मोह को छोड़े बिना कोई निस्तार नहीं ।

इधर दो एक घटनाओं ने इस धारणा को और भी दृढ़ किया । इन की सगाई चार वर्ष की आयु में हो चुकी थी, अब (१८९५ में) इन के पिता विवाह के लिए जोर देने लगे । यह इन्हें कभी सह्य न था, इन्हों ने साफ इंकार कर दिया । मास्टर कुंदनलाल वैसे ही बड़े क्रोधी स्वभाव के थे, बड़ा तनाव हुआ । यही नहीं भरी बिरादरी में इन्हों ने स्पष्ट कह दिया कि मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहना चाहता हूं और सन्यासी बनना चाहता हूं । इस से उन के मन को और भी विश्वास हो गया कि घर बाहर का त्याग किए बिना कोई उपचार नहीं है । जैसे तैसे १८९७ में एंट्रेंस की परीक्षा पास की । पिता ने रेलवे में नौकरी के लिए बाध्य किया, परन्तु हृदय इन का उच्च ज्ञान-ध्यान के लिए लालायित था । ये घर से भाग खड़े हुए, पैदल अमृतसर चले आए । वहां अपने पुराने अध्यापक के यहां आश्रय लिया । तब तक घर वालों को पता लग चुका था । लौट कर नौकरी कर ली । इसी बीच इन के बड़े भाई शिवराम तथा बड़ी बहन शिवदेवी की अकाल मृत्यु हो गई । यह चोट इन की मां के लिय असाधारण थी ; अमृतसर से लौटने पर वे बड़ा रोईं, ये पानी पानी हो गए । इस के बाद कई बार घर छोड़ने की इच्छा होते हुए भी स्नेहशील मां के ममतामय मुखड़े को देख कर निष्क्रिय हो जाते ।

उन दिनों आर्यसमाज ने पंजाब में बड़ी स्फूर्ति और उत्साह पैदा कर दिया था । सर्वत्र जीवन और नवजागरण का स्वर सुनाई देता था । इन अनुकूल परिस्थितियों में स्वामी दयानन्द का प्रभाव चार रूपों में उभरा । सब से पहले इन्हें मालूम हो गया कि संस्कृत का ज्ञान अत्यावश्यक है जिस के बिना अपने धर्म और संस्कृति को जानना संभव नहीं । इसी अदम्य आकांक्षा ने इन्हें एक दिन दयामयी मां के साथ निष्ठुरता करने के लिए बाध्य किया । दूसरे सत्यार्थप्रकाश ने सिखा दिया कि विदेशी राज्य चाहे कितना ही सुव्यवस्थित क्यों न हो, अपने शासन से उसकी

कोई तुलना नहीं है । ला० लाजपतराय के कर्मठ व्यक्तित्व ने इस धारणा की पुष्टि की । इधर स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द के संपर्क से इन में स्वाधीनता और उस के फल को स्वयं चखने की लालसा उत्कट हो गई । उस का अनुभव करना इन का परम ध्येय हो गया । इन परिस्थितियों ने इन्हें सुझा दिया कि वैवाहिक जीवन मार्ग में सदा बाधाएं प्रस्तुत करेगा, साथ ही इन के अन्तःकरण से आवाज़ उठती कि मुझे 'गुलाम संतान' पैदा करने का कोई अधिकार नहीं है । इन्हों ने सदा के लिए कुमार रहने का व्रत धारण कर लिया ।

नौकरी में इनका मन था नहीं । जल्दी ही डी० ए० वी० कालेज में भर्ती हुए, कुछ देर महेन्द्र कालेज, पटियाला में भी रहे, परन्तु सब यह 'स्वतन्त्रता की खोज' की महान यात्रा के निमित्त था । इस तरह बीस वर्ष की आयु में परिव्राजक जी ने जीवन संग्राम में प्रवेश किया । मन में कई तरह के संकल्प-विकल्प उठते, ऊहापोह होता । एक तरफ परतन्त्रता की शृंखलाएं थीं, दूसरी तरफ़ कदम कदम पर धर्मान्धता और कुरीतियों का विस्तार मिलता । इधर इन के नेत्रों की ज्योति जन्म से ही कम थी उधर उठते यौवन में मन और शरीर की भूख का भयंकर अन्तर्द्वन्द्व । यह सब था, और होना स्वाभाविक भी था । पर हृदय विचलित नहीं हुआ । ईश्वर पर विश्वास करके घर से संस्कृत पढ़ने के लिए निकल पड़े । यहां तक ही नहीं, परिस्थितियां और भी विकट रूप धारण करने लग पड़ीं । एक तो सत्यदेव जी स्वयं ब्राह्मण न थे, अधिकांश गुरु ब्राह्मण होने के नाते अपने वर्ण वालों को ही दीक्षा देते । दूसरे पंजाब प्रांत से संबंधित होने के कारण उत्तर प्रदेश वाले उपेक्षा की दृष्टि से देखते । तीसरे बहुत कम गुरु महान् एवं विद्वान मिलते । बड़े परिश्रम एवं अध्यावसाय के बाद स्वामी महानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया । इसी बीच इन की माता का स्वर्गवास हो गया और इन्हें फिर पंजाब की यात्रा करनी पड़ी । लौट कर कानपुर, देहरादून आदि स्थानों पर विभिन्न विद्वानों से लाभ उठाते हुए चार वर्ष तक काशी रहे । इसी अवधि में इन्होंने शास्त्रों के अध्ययन के अतिरिक्त हिन्दी भाषा, उच्चारण की शुद्धता, लिखने की कला, आदि कई बातें सीख लीं ।

इस तरह परिव्राजक जी का १९०५ से १९५८ तक का जीवन चार विभिन्न धाराओं में प्रस्फुटित हुआ; साहसी सैलानी, स्वतन्त्र राजनीतिज्ञ, हिन्दी के कर्मठ सेवक एवं प्रचारक तथा वैदिक संस्कृति के व्याख्याता के रूप में ।

वास्तव में उन का सैलानी स्वरूप 'स्वतन्त्रता की खोज में' के साथ संवद्ध है। उन की रोमांचकारी यात्राओं के पीछे यही उद्देश्य निहित था। बनारस में ही उन्होंने स्वामी रामतीर्थ से अपेक्षित सूचना आदि प्राप्त कर ली थी। आश्चर्य इस बात पर है कि घर बाहर से दूर साधन और संपत्ति-हीन युवक केवल पन्द्रह रुपये की राशि से अमेरिका-यात्रा करने का दुःसाहस करता हैं। निश्चय ही इस से उन की लगन और दृढ़-प्रतिज्ञ स्वरूप का परिचय मिलता है। वे १६०५ से १६११ तक पांच वर्ष अमेरिका में रहे। शिकागो विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की। पर इस से उन के मन को तृप्ति नहीं हुई; वे स्वाधीन जाति के रहन-सहन, आचार-विचार तथा शहरी और ग्रामीण जीवन को पास से देखना चाहते थे। उन्होंने २,३०० मील की पद-यात्रा की; यह कोई सुगम काम न था। न जाने कितने धैर्य और आत्म विश्वास के साथ विषम परिस्थितियों का सामना किया। कहीं भरपेट खाना नहीं मिलता, कहीं कड़कड़ाती सर्दी में बाहर सोना पड़ा, कहीं अपमान और निन्दा सहनी पड़ी—वह भी बिना किसी प्रत्यक्ष स्वार्थ के। वहां उन्हों ने स्वतन्त्रता के मूल्य को आंका और उस के व्यवहारिक स्वरूप को समझा। आती बार परिव्राजक जी यूरोप का चक्कर लगाते आए।

अमेरिका यात्रा से लौटने के दो-एक वर्ष बाद परिव्राजक जी प्रयाग में अस्थायी रूप से रहने लगे परन्तु ऐसा प्रतीत होने लग पड़ा कि स्थिर रहना उनके स्वभाव के विरुद्ध होता जा रहा है। गर्मियों में अल्मोड़ा जाते ही थे, वहीं से अचानक कैलाश-यात्रा का कार्यक्रम बना डाला। धर्म के केन्द्र, मानसरोवर के स्नान से उन्हें अद्वितीय शांति मिली। १६१४ में दोबारा अमेरिका जाने की इच्छा बलवती होने लग पड़ी, इस बार पी० एच० डी० करने का उद्देश्य था परन्तु युद्ध के आरम्भ होने से यह विचार कार्यान्वित न किया जा सका।

आंखों की ज्योति के धीरे धीरे मन्द होने के भय से १६२३ में इन्होंने जर्मन यात्रा आरम्भ की। इस के बाद ये चार बार जर्मन गए। वास्तव में जर्मन के आर्य स्वरूप तथा संस्कृत प्रेम का इन पर विशेष प्रभाव पड़ा। उन के सरल स्नेहमय स्वभाव से ये अभिभूत हो गए। एक आंख लगभग खराब हो चुकी थी; पर खुफ़िया पुलिस के नृशंस अत्याचार के कारण इन्हें आजीवन चक्षुहीन ही नहीं होना पड़ा, घुटनों में भी दर्द की बीमारी शुरु हो गई। वहीं से उन्हों ने सारे यूरोप को देखा जो उनकी

"योरुप की सुखद स्मृतियां" नामक पुस्तक में बड़े रोचक ढंग से चित्रित हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सत्यदेव जी में यात्राओं के चित्रण के लिए अपेक्षित दोनों गुण विद्यमान हैं । सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति और वर्णनात्मकता । "योरुप की सुखद स्मृतियां", "नई दुनियां में मेरे अद्भुत संस्मरण", "मेरी कैलाश यात्रा", "अमेरिका भ्रमण" तथा "मेरी जर्मन यात्रा" नामक रचनाएं इस मत को पुष्टि करती हैं । मद्रास के प्रसिद्ध पत्र "हिन्दु" ने उचित प्रशंसा की है :—

"Swami Satya Dev wields a facile pen and sometimes he transports the reader and plants him right in the centre of the grand mountain scenery of the Himalaya by the vividness of his descriptions." अर्थात् स्वामी सत्यदेव की लेखनी प्रवाहमयी है । वे प्रायः अपने सजीव चित्रण द्वारा पाठक को हिमालय की रमणीक पहाड़ियों के अद्भुत सौन्दर्य के बीच ला खड़ा करते हैं । यही उक्ति कैलाश-यात्रा की तरह अन्य कृतियों पर भी लागू होती है ।

उक्त यात्राओं का दूसरा लाभ था उदार एवं बौद्धिक दृष्टिकोण का विकास । अमेरिका और विशेषतः जर्मनी में स्वामी जी ने धर्म के व्यापक स्वरूप को देखा, अपने यहां की तरह का परम्पराग्रस्त एवं रुढ़िग्रस्त नहीं । वहां उन्हें सर्वत्र 'स्वतन्त्र एवं नीरोग वातावरण' मिला जिस में व्यक्तित्व का सहज विकास हो सके । विदेश में उन्होंने श्रम का मूल्य पाया, सभी लोग बड़े परिश्रमी एवं उद्यमी मिले । श्रम के सामने स्वामी और सेवक सभी समान होते । स्त्री-स्वतन्त्रता का भी परिव्राजक जी के मन पर गहरा असर पड़ा । इस तरह वहां के सरल एवं सुखद वायुमण्डल का उन के अवचेतन मन पर पर्याप्त प्रभाव रहा जिस का परिचय स्थान स्थान पर मिलता रहा ।

स्वामी जी का राजनैतिक जीवन अमेरिका से आने के बाद शुरु हो जाता है । उन के सामने आज़ादी का नक्शा साफ था, वहां से नया उत्साह और प्रेरणा तो थी ही परन्तु परिस्थितियां बड़ विरोधी थीं । बड़े बड़े नेता स्वतन्त्रता का नाम लेने से डरते थे । यू० पी० में मालवीय जी इन के दृष्टिकोण से सहमत न हो सके, पंजाब में डी० ए० वी०

कालेज और प्रतिनिधि सभा के अधीन एक बार ही भाषाण देने पर वे लोग घबरा गए । पर परिव्राजक जी में अद्वितीय लगन और साहस था । उन्होंने स्वतन्त्र रूप से प्रचार करना आरम्भ किया । १८ वर्ष बाद जिस ऐतिहासिक स्थान पर कांग्रेस ने स्वाधीनता-प्रस्ताव पास किया उसी रावी के किनारे इन्होंने जनता को आज़ादी का महत्त्व प्रकट किया । ध्यान इस बात पर जाता है कि ला० लाजपतराय और भाई परमानन्द जैसे नेताओं के सहारे के बिना तथा पुलिस के अत्याचारों को सहते हुए भी इस वीर सैनिक ने अकेले लड़ाई का बिगुल बजाए रखा ।

महात्मा गांधी की तरह परिव्राजक जी को भी केवल गोखले ने आश्रय दिया । १९१५ में गोखले की मृत्यु के बाद महात्मा गांधी ने धीरे धीरे राजनीति-सूत्रों को सम्हाला । उन्होंने जनता के सामने अहिंसात्मक असहयोग का बिलकुल नया समाधान रखा । परिव्राजक जी को यह बड़ा अपील कर गया । इस तरह गांधी जी के साथ ये भी भारत के राजनैतिक मंच पर सामने आए । चंपारन सत्याग्रह में साथ गए । गांधी जी के आदेशानुसार इस संघर्ष में जुटे रहे, परन्तु १९२४ में खिलाफत-आंदोलन को केवल "चौरा चौरी" के भय से रोक देने पर इन का मन बड़ा खट्टा हुआ । इन के अनुसार वह गांधी जी की बहुत बड़ी भूल थी।

परिव्राजक जी ने अनुभव किया कि जब तक हिन्दुओं का संगठन नहीं होता, उन्हें जाति-पांति, छूत-छात और वर्ण भेद से ऊपर नहीं उठाया जाता तब तक मुसलमानों को साथ चलाना कैसे संभव हो सकता है । स्वामी जी के सामने अमेरिका का उदाहरण था जहां पर नीगरो लोग अमेरिकनों का साथ देते थे। निश्चय ही इस के पीछे कोई साम्प्रदायिक दृष्टिकोण न था, बहुत से नेताओं ने इन्हें ग़लत समझा । इन की न हिन्दू महासभा से सहानभूति थी और न कांग्रेस से विरोध । उद्देश्य तो वही था परन्तु मार्ग भिन्न थे । अपने "संगठन का बिगुल" में इन्होंने ऐसे ही सिद्धान्तों का विवेचन किया । वे हिन्दू समाज को सुदृढ़ एवं ऊंचा उठाना चाहते थे । जनता को यह नया राष्ट्रीय दृष्टिकोण बहुत प्रिय लगा । उक्त पुस्तक की हज़ारों प्रतियां बिक गईं । सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से मालूम होगा कि इस विचार धारा के पीछे परिव्राजक जी हिन्दुओं के सांस्कृतिक उत्थान पर ज़ोर देना चाहते थे । राजनीति और संस्कृति का सम्मिलन कितनी अमोघ शक्ति पैदा कर सकता है, इस का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ।

राजनैतिक क्षेत्र में भी परिव्राजक जी की उदारता तथा गुण-ग्रहण करने की प्रवृत्ति सराहनीय है। गांधी जी से मतभेद होते हुए भी वे सदा उन के महत्त्व और असर को स्वीकार करते रहे। स्वयं गांधी जी ने इन्हें कई बार साथ रहने के लिए बुलाया। इन की जीवनी पर विचार करते हुए "ट्रीब्यून" के सम्पादक ने लिखा :—"The Swami's life is, in a sense the history of our national struggle..........There are many points on which he has differed with Mahatama but he is one of those who were the first to fall under the spell of the master and who have never been able to shake it off." एक दृष्टि से स्वामी जी का जीवन हमारे राष्ट्रीय संघर्ष का इतिहास है—बहुत सी बातों में उनका महात्मा गांधी से मतभेद होता परन्तु वे उन व्यक्तियों में से थे जो सब से पहले महात्मा जी से प्रभावित हुए और जो उस प्रभाव से कभी अलग नहीं हो पाए। इस विशलेष्ण में किसी प्रकार भी अत्युक्ति नहीं; शायद इसी स्वभाव के कारण इन के महात्मा गांधी के अतिरिक्त तिलक, मोतीलाल नेहरू और ला० लाजपत राय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहे।

हिन्दी और उस के साहित्य में परिव्राजक जी का योगदान कम श्लाघनीय नहीं। ये अमेरिका में हो अपनी यात्रा के रोमांचकारी संस्मरण "सरस्वती" में भेजा करते थे। अमेरिका से लौटने पर श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन के कहने पर इन्हों ने प्रयाग को अपना केन्द्र बनाया और "सत्य-ज्ञान—सीरीज" निकालनी शुरु कर दी। इन्होंने विदेशी यात्रा के बावजूद अपना सारा यात्रा-साहित्य हिन्दी में निकाला, ये चाहते तो आर्थिक लाभ की दृष्टि से अंग्रेजी में प्रकाशित करवा सकते थे। इन के संस्मरण बड़े सरस और आकर्षण ढंग से लिखे गए हैं।

इन की जीवनी का हिन्दी साहित्य में विशेष स्थान है। वास्तव में जीवन-चरित के लिए दो मूल गुण होने चाहिए—निर्वैयक्तिता और वर्णन में सरसता। दोनों गुण उन की जीवनी में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। सदा के लिए घर का त्याग करते समय इन्हों ने स्पष्ट रूप से अपनी कमज़ोरियों को स्वीकार किया है। युवावस्था में वैरागी होना सहज नहीं, कहने मात्र से तो कोई सन्यासी नहीं बन जाता। जीवन के उत्तरार्द्ध में इन्हें अपने उग्र एवं क्रोधी स्वभाव का स्पष्ट पता लग गया था। उन्होंने स्वयं गांधी जी के आगे इस बात को स्वीकार किया है। इन की

जीवनी केवल घटनाओं की गठरी मात्र नहीं, उस में सजीवता एवं सप्राणता है । लेखक ने घटनाओं तथा परिस्थितियों में इस तरह का अन्वय रखा कि उस में कथा का सा आनंद आता है । जैसा कि नागपुर टाइम्स के श्री अनन्त गोपाल शेवड़े ने कहा है "स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'आत्म कथा' यह है तो आत्मकथा पर किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं—भाषा सरल, सीधी और, आडम्बरहीन है, प्रवाह अच्छा है। वर्णन शैली मन को पकड़ लेती है । यह हिन्दी के जीवनी-साहित्य को समृद्ध बनाने वाली कृति है ।"

स्वामी जी ने अमेरिका से आकर पंजाब में हिन्दी प्रचार के लिए एक दौरा किया । बाद में महात्मा गांधी के कहने पर आप कई बार मद्रास में हिन्दी का प्रचार करते रहे । इन के हिन्दी प्रेम का ज्वलंत प्रमाण है सत्य-ज्ञान निकेतन का काशी नागरी प्रचारिणी सभा को दान करना वस्तुत: इन का उद्देश्य यह था कि यहां पर एक सुन्दर पुस्तकालय हो और शोध-कार्य का केन्द्र बनाया जाय । आशा है कि सभा इस ओर उचित कार्यवाही करेगी ।

सत्यदेव जी के जीवन-दर्शन में एक ओर स्वामी दयानन्द के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण का प्रभाव है तथा दूसरी ओर उन में पश्चिमी सम्पर्क से आए प्रगतिशील बौद्धिक विश्लेषण का परिचय मिलता है । मूलत: सन्यासी होते हुए परिव्राजक जी अपनी यात्राओं में सर्वत्र भारतीय संस्कृति का प्रचार करते रहे । राजनीति में भाग लेते हुए भी वे अपने मूल उद्देश्य को भूले नहीं, ध्यान इस बात पर जाता है कि इतने धार्मिक होते हुए भी परिव्राजक जी कहीं साम्प्रदायिक या शुष्क सिद्धांतवादी (Dogmatic) नहीं हुए । उन्होंने कभी नहीं कहा कि भारत केवल हिन्दुओं के लिए है । उन्हों ने कभी अपने आप को वाद के बन्धन में नहीं बांधा ।

उनके अनुसार आज की समस्त सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का समाधान 'उत्कृष्ट बुद्धिवाद' में है। इसी लिए इन्हें लेनिन की अपेक्षा गांधी पर अधिक विश्वास है । समाज में से रुढ़ियों, अज्ञानता, अंध-विश्वास आदि को निकालने से ही जीवन में नीरोग वातावरण पैदा किया जा सकता है । इस के पीछे विदेशी अनुभव कार्य कर रहा है जहां पर समाज की नींव समानता और उदारता पर आश्रित है । इस से आर्थिक व्यवस्था स्वयं ही ठीक हो जाती है, इसी लिए उन्हें लेनिन का एकांगी दृष्टिकोण

उपयुक्त नहीं लगता। जीवन के प्रति इस तरह का यथार्थ दृष्टिकोण प्रशंसनीय है।

परिव्राजक जी के जीवन-संगम में राजनीति, साहित्य और दर्शन का अपूर्व मिलन है। वे वास्तव में युग-पुरुष हैं, उनका जीवन ही इतिहास है। उन का साहसी एवं कर्मठ व्यक्तित्व सदा प्रेरणा और आदर्श का स्रोत रहेगा। वे इस देश की चेतना को हमारी अन्त: चेतना में अनुस्यूत करना चाहते हैं ताकि हम महसूस कर सकें कि हम सब हजारों वर्षों से चली आ रही संस्कृति की कड़ी हैं।

—:0:—

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक--

क्रांति

मेरा नाम क्रान्ति है। मैं पुरानी, जर्जर, सड़ी-गली और दकियानूसी बातों को जलाकर भस्म कर देती हूँ और नवजीवन का संचार करती हूँ। मैं अविरत यौवन का मूल कारण हूँ और बुढ़ापे का नाश करती हूँ, जहाँ मैं हूँ, वहीं जिन्दगी है, जहाँ मैं नहीं हूँ, वहीं मौत है। समाज के अत्याचारों से पीड़ित दुःखी लोगों के लिए मैं आशा का पुंज हूँ, मैं उन के अभ्युत्थान का सुखद स्वप्न हूँ। बूढ़े मेरे डर से थरथर काँपते हैं और जवान मेरा सहर्ष स्वागत करते हैं। जहाँ मेरी सवारी जाती है, वहाँ का कूड़ा-करकट सब साफ हो जाता है और दैवी प्रकाश की ज्योति जगमगाने लगती है। मैं समाज की जंजीरों को तोड़ कर फेंक देती हूँ और सताई हुई आत्माओं को सान्त्वना प्रदान करती हूँ। मैं दलितों की जंजीरों को तोड़कर उन्हें उन के अधिकार दिलाने वाली हूँ और उन्हें अमृतरस पान कराती हूँ।

मेरा नाम चण्डी भवानी है। मैं वर्तमान को मिटाकर भव्य भाग्यशाली भविष्य की रचना करती हूँ। यही जीवन का अनादि सिद्धान्त है और मैं उस अनादि नियम का पालन करती हूँ, ताकि समाज में ताजगी और नवीन स्फूर्ति आये।

मैं बसन्ती देवी हूँ। आँधी और तूफानों द्वारा पुरानी चीजों को जड़ से हिलाकर मैं नये युग में रंग-बिरंगे फूलों से संसार रूपी उद्यान को सुशोभित करती हूँ।

मेरा नाम पापनाशिनी दुर्गा है। मैं समाज की सभी कुरीतियों को मिटाने वाली हूँ, क्योंकि वे स्वार्थी और पापी लोगों की चलाई हुई हैं। इन कुरीतियों का मूल पाप है और इन के फल भी पापों की वृद्धि करने

वाले हैं । इन कुरीतियों से समाज में घोर अत्याचार होता है और बड़े बड़े अनर्थ इन के द्वारा हो रहे हैं ।

सावधान हो जाओ । तुम्हारे पापों का घड़ा भर गया है । मैं पापियों को दण्ड देने वाली विकराल क्रान्ति हूँ । पापों की फसल काटने का समय आ गया, ऊंच-नीच के भावों को मिटा देने का समय आ गया, अस्पृश्यता के नाश करने का समय आ गया, जातपात के तोड़ने का समय आ गया, मेरा क्रान्ति का बिगुल है, मेरा संगठन का शंख है । मैं सब प्रकार के पाखण्डों का नाश करने वाली हूँ, सब प्रकार के मिथ्या विश्वासों को मिटा देने वाली हूँ ।

याद रक्खो, मैं गुरुडम की घोर शत्रु हूँ । पाखण्डी मौलवी मुल्लाओं, धूर्त पण्डितों और मक्कार पुरोहितों के लिये तो मैं भीषण काल हूँ । मैं इल्हाम के प्रभुत्व को छिन्न-भिन्न कर, बुद्धिवाद का साम्राज्य स्थापित करती हूँ । मैं, एक के बहुतों पर शासन करने के अधिकार को, समूल नष्ट कर दूंगी, मैं निकम्मे, पेट्टू और मजहब के ठेकेदारों की हकूमत को मिट्टी में मिला दूँगी, मैं पाशविक शक्ति के घमण्ड को चूर चूर कर सदाचार और सच्चरित्रता का राज्य स्थापित करती हूँ और प्रकृति को आत्मा का दास बनाती हूँ । बड़ी बड़ी तोंदवाले, घमण्डी और मुफ्तखोर "बड़े आदमियों" के जुल्मों का मैं अन्त कर दूंगी और मेहनती ईमानदार मजदूरों को बड़ा बनाऊँगी । शास्त्र का नाम लेकर लूटने वाले ब्राह्मणों के प्रभाव को मिटा देना काम है । प्रत्येक स्त्री और पुरुष को मैं स्वाधीन बनाती हूँ । सब कोई अपने लिये स्वयं सोचना सीखे और अपने पाओं के बल खड़ा होने की आदत डाले । मैं स्वावलम्बन की शिक्षा देती हूँ और प्रत्येक व्यक्ति को अपना आप स्वामी बनाती हूँ, क्योंकि स्वावलम्बन ही स्वाधीनता है ।

मैं स्वतन्त्रता की देवी हूँ । सब प्रकार की गुलामी की बेड़ियों को मैं काटने वाली हूँ । मैं सबको स्वाधीन बनाती हूँ । क्योंकि स्वाधीनता ही पवित्रता है और स्वाधीनता से बढ़कर कोई श्रेष्ठतम पदार्थ नहीं । मैं जातपात के बन्धनों को तोड़कर समाज को स्वाधीनता का अमृत पान कराऊँगी, छोटे २ भेदों को मिटा कर एक दूसरे को आपस में मिलाऊँगी, सदियों से सड़े हुए रुधिर को दूर कर समाज की नाड़ियों में शुद्ध रक्त का संचार करूँगी और सबको मिलाकर एक राष्ट्र का संगठन करूँगी ।

मैं कर्मयोग की प्रवर्त्तिका हूँ; जन्म के ढकोसले का सत्यानाश करती हूँ। गुण और कर्म से समाज को चलाती हूँ, योग्य को सिंहासन पर बैठाती हूँ और आलसी अयोग्य को नीचे गिरा देती हूँ। मैं कर्मों का फल देने वाली प्रारब्ध हूँ। पुरुषार्थी और उद्योगी मनुष्य मुझ से आशीर्वाद पाते हैं; अकर्मण्य और हाथ पर हाथ धरकर बैठने वाले मेरे चाँटे खाते हैं। मैं जन्म के आधार पर स्थापित वर्णाश्रम धर्म का नाश कर दूंगी और इसके स्थान पर कर्मयोग की कसौटी द्वारा वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करूँगी। मैं पापों के बहाने वाली श्री गंगाजी की भयंकर बाढ़ हूँ। जो पापी पुजारी, पुरोहित और पण्डित मेरे मार्ग में खड़ा होगा, उसे मैं गंगासागर में लेजाकर सदा के लिये लोप कर दूँगी।

मेरा नाम सामाजिक क्रान्ति है। मैं सैंकड़ों वर्षों के रिवाजों को हटाने आई हूँ, मैं जनसाधारण में लकीर के फ़कीर रहने की आदत को मिटाने आई हूँ, मैं मुट्ठीभर आदमियों के बहुतों पर शासन करने के अधिकार को हटाने आई हूँ, मैं ईश्वर के प्रतिनिधि बनने वाले पण्डों का रुतबा घटाने आई हूँ, मैं जनसाधारण को धर्म का सच्चा सरल मार्ग बताने आई हूँ। समाज में सब के साथ न्याय और किसी की खास रियायत न हो, यह मेरी घोषणा है। मैं साम्यवाद की प्रचण्ड प्रचारिका हूँ। मेरा समता, स्वतन्त्रता और भ्रातृ भाव का झण्डा है। मैं उस व्यवस्था का नाश कर दूंगी, जिस के अनुसार करोड़ों आदमी मुट्ठीभर आदमियों के दास बने हुए हैं, क्योंकि वे मुट्ठीभर आदमी धन के गुलाम बनकर समाज में व्यभिचार फैलाते हैं। मैं समाज को ऐसी सब बुराइयों से साफ कर देना चाहती हूँ, जो एकता की विघातक हैं और सत्य व न्याय का राज्य कायम नहीं होने देती। मैं विधवाओं के आँसुओं को पोंछने आई हूँ और उन को हर्षसम्वाद सुनाने आई हूँ। अबलाओं को सताने वाले आततायी अब खबरदार हो जायें, मेरा डण्डा बड़ा भयंकर है। मैं अनाथ दुखियों की रक्षा करूँगी और दुष्टों को कठोर दण्ड दूंगी।

अत्याचार से पीड़ित लोगों, उठो। अछूत बच्चो, उठो। विधवाओ, चैतन्य हो जाओ। मेरे आनन्द सन्देश को सुनो। मैं अब पुरानी सामाजिक मशीन को तोड़फोड़ कर नया संगठन करूँगी और सब के लिये उन्नति का द्वार खोलूंगी। जो मेरी सेना में भर्ती होकर मेरे सिपाही बनेंगे, उन्हें स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होगी। इस लिये हर्ष-नाद करते हुए, सब प्रकार की शंकाओं को छोड़ कर मेरे अनुगामी बनो। मेरे नज़दीक कोई बड़ा

छोटा नहीं, मैं सब को बराबर का दर्जा देती हूँ । जो मेरे साथ चलकर, मेरी फ़ौज के सिपाही बनकर मनुष्य-समाज की उन्नति और इस के अभ्यु-त्थान में मेरी मदद करेंगे, वे ही अपने जीवन को सार्थक कर स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति करेंगे और जो मेरा विरोध कर मेरे रास्ते में रोड़े अटकायेंगे, उन्हें मैं निर्दयता से कुचल डालूंगी, क्योंकि मैं पापों का संहार करने वाली, दुष्टों का दलन करने वाली, पुरानी जर्जरित पद्धतियों को मिटा देने वाली क्रान्ति हूँ । मैं जीवन स्फूर्ति और उन्नति का स्रोत हूँ । मैं पहले प्रलय मचाकर पीछे नई सृष्टि की रचना करती हूँ ।

"भारतीय स्वाधीनता
संदेश" से उद्धृत

****

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

कला सम्बन्धी कुछ स्वतन्त्र विचार

यह सन् १९२५ की बात है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र के सम्पादक के घर में मैं ठहरा हुआ था। क्रान्तिकारियों की बातें होने लगीं। बातें करते हुए वे मुस्करा कर कहने लगे—

"मैं क्रान्तिकारियों में था। बम फेंकने और गोली-बारूद इकट्ठा करने में मेरा भी हाथ था, परन्तु मैंने पुलिस को ऐसा चकमा दिया कि वह मुझे बिलकुल निरपराध समझती रही। फलस्वरूप मैं बच गया।"

मेरा कौतूहल जाग उठा और मैंने बड़े उत्सुकतापूर्ण शब्दों में पूछा "क्यों सी० आई० डी० के इंस्पेक्टर ने आप को तंग नहीं किया"?

सम्पादक महोदय हंस कर बोले—"मैंने ऐसा मुंह बनाया और भोलेपन का ऐसा स्वांग रचा कि टिकटिकी महाशय ने मेरा सोलहों आने विश्वास कर लिया। पहले तो कई घंटे तक वे मुझे धमकाते-डराते रहे, बाद में खुशामद और चापलूसी भी की, लेकिन मैं झूठ बोलने की कला में पुराना सिद्धहस्त था; भला उन के हथकण्डों में कैसे आ सकता था।"

'कला' का शब्द सुनकर मैं चौंक पड़ा। कला! क्या झूठ बोलने में भी कोई कला है? यह प्रश्न मेरे दिमाग में रह-रह कर उठने लगा। मैंने अपने मित्र सम्पादक जी से हैरानी से पूछा—"तो क्या झूठ बोलने की भी कोई कला होती है"?

सम्पादक जी खिलखिला उठे और कहने लगे—"सच तो बड़े बुद्धू भी बोल सकते हैं, उस में कौन सी अकलमन्दी है। झूठ बोलने में ही बड़ी कला है—ऐसा झूठ जो दूसरे को बेवकूफ बना दे और उस पर सत्य का रंग चढ़ा दे। बड़ा बुद्धिमान, बड़ा चालाक तथा अतिकुशल व्यक्ति ही अपनी प्रतिभा से झूठ को सच कर के दिखला सकता है। वकील लोग यही करते हैं। यह उन की कला है।"

कला का यह स्वरूप अभी तक मेरे मस्तिष्क में नहीं आया था। मैं तो यह समझता था कि शिल्प-कला, चित्र-कला, नृत्य-कला, स्थापत्य-कला

आदि कलाओं का ही "कला" के अर्थ में व्यवहार किया जाता है, पर अब मुझे पता लगा कि झूठ बोलना भी एक बड़ा भारी कला है। ऐसे ही जब कोई लड़का किसी जेब कतरने वाले की कहानी पढ़ता है और उस की सफ़ाई के करिश्मे देखता है, तब वह उसे भी एक कला समझकर स्वयं उस का अनुभव जान लेने के लिये घर से निकल जाता है। ऐसे कई मुकदमे अदालतों में आये हैं जहां छोटी उम्र के लड़कों ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए इस बात को न्यायालय के सामने माना है कि जेब कतरने वालों की फुर्ती और उन के हाथों की सफाई को ऊंचे दर्जे की कला समझकर ही उन्होंने ऐसा काम करने का संकल्प किया था।

तो कला क्या वस्तु है? मैंने जब बम्बई के एक प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता से कला सम्बन्धी पुस्तकों की लिस्ट मांगी, तब उस ने मुझे एक पुस्तिका दे दी। उस पर मोटे अक्षरों में लिखा था'—'Art' अर्थात् कला। जब मैंने उस में पुस्तकों के नाम देखे, तब वे सब शिल्प, फोटोग्राफी, चित्रकारी तथा भ्रमण सम्बन्धी वृत्तान्तों से सम्बन्ध रखते थे। एक भी पुस्तक मुझे ऐसी न मिली जिस का साहित्य अथवा संगीत के साथ कोई सम्बन्ध होता। मुझे इस से पता लगा कि पुराने संस्कृत-साहित्याचार्यों के मतानुसार साहित्य, संगीत और कला, ये तीन अलग चीजें हैं और आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इन्हें वैसा ही माना है।

तो फिर साहित्य और कला का यह नया झगड़ा हिन्दी वालों ने कैसे उठाया है? इन के जो लेख कला पर निकलते हैं वे प्रायः ऐसे कि जिन के सिर न पैर, भ्रम से भरे हुए कोई बात स्पष्ट व्यक्त नहीं करते, क्योंकि वे अन्धेरे में टटोल रहे हैं। उन्होंने अनन्त ज्ञान, विश्व का व्यक्तित्व, सत्य, सुन्दर और शिव आदि ऐसे शब्द रटे हुए हैं जिन्हें कहकर वे अपने पाठकों को भूलभुलैया में डाल अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हैं। यूनानी कलाविदों ने जिस वस्तु को कला माना है वह वही है जिसे आज योरुप की विद्वन्मण्डली मानती है। पर मैं यहां केवल इस बात पर विचार कर रहा हूँ कि साहित्य में जो वस्तु कला मानी जाती है और जिस की आज दुहाई दी जाती है वह है क्या बला। आज कहानी-कला पर ही लेख लिखे जा रहे हैं। संक्षेप में, जो भी कोई उठता है वह कला की आड़ में अपना रोब जमाना चाहता है।

देखिए ! हमें शब्दों के जंगल में मत ले जाइए। और न ऐसे क्षेत्र में पांव रखिए जिसके विषय में आपको कुछ मालूम नहीं। साहित्य सम्बन्धी बातों पर विचार करते समय भी हमारे मस्तिष्क में वैज्ञानिक ढंग ही रहना चाहिये —वह ढंग जो वस्तु की खाल खींच लेता है और उसके अंगो को काट कर स्पष्ट दिखला देता है। गोल-मोल बातें करने से हम कभी अपनी प्रतिभा की छाप नहीं डाल सकते। कुछ समय के लिए लोग भले ही बहक जाएं परन्तु अन्त में एक समय ऐसा आता है जब माया जाल की पोल खुल जाती है।

असल में कला का प्रारम्भिक स्वरूप है किसी काम को सफाई से कर लेना। उर्दू में इसे हुनर कहते हैं। यह कला शब्द का व्यापक व्यवहार है। आप किसी कहानी को ऐसी सफाई से कहते हैं कि सुनने वाला उसे बिलकुल सत्य समझकर मन्त्रमुग्ध होकर आपकी बात मान लेता है और उस के दिल में यह जम जाता है कि वह कहानी सच्ची है। डेनियल डीफ़ो के 'राबिन्सन क्रूसो' के पढ़ने वाले लाखों पाठक उसे अक्षरशः सत्य समझते हैं। वह लिखी ही ऐसे ढंग से गई है कि पढ़ने वाला सत्य माने बिना नहीं रह सकता। यह एक कला है। इस कला का सम्बन्ध केवल कहानी कहने के ढंग के साथ है, अर्थात् उस की उस खूबी को प्रकट करती है जिस के बल पर एक कल्पनात्मक घटना बिलकुल सच्ची जान पड़ती है। कहानी में कोई शिक्षा है या नहीं, उस में कोई उद्देश्य छिपा हुआ है या वह बिना उद्देश्य के ही है —ये बातें कला के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती। कला का क्षेत्र इस अंश में इतना ही है कि कहानी इस ढंग से कही जाए कि वह वस्तुस्थिति का जीवित चित्र खींच दे और शिक्षित या अशिक्षित, दोनों प्रकार के पाठकों के हृदय पर अपना प्रभाव डाले। कई कहानियां ऐसी होती हैं कि बालक उन्हें मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते हैं, लेकिन कलाविद् पुरुष को वे बड़ी भौंडी और कलाशून्य जान पड़ती हैं। तो कला का शब्द भी सापेक्ष है और इसका व्यवहार उसी के अनुसार किया जाना चाहिये। शेक्सपियर के जिन नाटकों ने अंग्रेजी साहित्य का मस्तक ऊंचा कर दिया, कलाविद् टाल्सटाय की दृष्टि में वे जंचे ही नहीं। क्योंकि ऋषि टाल्सटाय जिस चीज़ को कला समझते थे उस को उन्होंने उन रचनाओं में नहीं पाया। ऐसा क्यों हुआ ? इस का उत्तर यह है कि टाल्सटाय ने कला के साथ किसी दूसरी और वस्तु का समावेश कर लिया।

जैसे एक मनुष्य दिल बहलाने के लिये ताश के पत्तों का हुनर—अपने हाथ की सफाई—इस ढंग से दिखलाता है कि देखने वाले दांतों तले उंगली दबाने लगते हैं, वे आश्चर्य में डूब जाते हैं, उन का मन बहलाता है। थिएटरों में कई प्रकार के ऐसे हुनर—ऐसे तमाशे—दिखलाए जाते हैं, जिनकी कला को देख कर दर्शक अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि उन के टिकट का दाम कीमत से अधिक वसूल हो गया। परन्तु महात्मा गांधी और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे आदर्शवादियों को मन बहलाने वाले उन नाटकों, खेल तमाशों और ताश-शतरंज की चालों में कोई कला नहीं दिखलाई देती। वे उन में मानवसमाज का उत्थान करने वाली कोई शिक्षा नहीं पाते। इसीलिए वे उन का विरोध करते हैं और ऐसे खेलों में मन बहलाना समय का व्यर्थ खोना मानते हैं। आदर्शवादियों की जीवनचर्या में कला के मन बहलाने वाले ऐसे स्वरूप के लिये कोई स्थान नहीं। यहां तक तो कला का सम्बन्ध है किसी काम को सफाई अथवा परिष्कृत रूप में करने के साथ है, इसीलिए मानव-समाज के संगठन के समय से ही काम को अत्यन्त कौशल से करने वाले लोग कुशल कारीगर कहे जाने लगे। वे अपने अपने विभाग में साधारण काम करने वाले की अपेक्षा अपने हाथ के हुनर को बड़ी चतुराई से दिखलाते थे—वे उसी कला के विशेषज्ञ माने जाते थे। जैसे तलवार चलाने की कला, कुशल अश्वारोहण, खनिज पदार्थों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की मीनाकारी, बर्तन बनाने की कारीगरी, रूई अथवा ऊनी कपड़ों पर सुई का विस्मयजनक काम, इत्यादि, ये सब हुनर 'कला' के अन्तर्गत हैं। इन में सच्चरित्रता, शिक्षा, भावुकता अथवा ऊंचे दर्जे के उपदेश के लिये कोई गुंजाइश नहीं। यह केवल हाथ की सफाई, कारीगरी और व्यावहारिक कुशलता से सम्बन्ध रखने वाले हुनर हैं। कला का यही प्रारम्भिक स्वरूप है प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर तथा जीवन-संग्राम में विजय की लालसा के हेतु जिस चतुराई और बुद्धिमता का मनुष्य ने प्रयोग किया है, उसी गुण ने अपने विकास में कला का रूप धारण कर लिया है।

परन्तु जब मानव-समाज में ज्ञान की अधिक उन्नति हुई, जब मनुष्य ने अपने मस्तिष्क को साहित्य और संगीत से परिष्कृत किया, तब वह भी शिल्पियों की तरह कला को अपने क्षेत्र में स्थान देने लगा और उस ने अपनी कला को परिष्कृत कला कह कर के पुकारा। अब तक

कला के व्यवहार में भावुकता, धर्म-दीक्षा और आदर्शवाद के लिये कोई स्थान न था। उस में सत्य और शिव का कोई पचड़ा न था। वह केवल सौन्दर्य और व्यावहारिक चतुराई की वस्तु थी। पर जब विद्वान-वर्ग ने कला के अपनाया, तब उन्होंने अपने भाई कलाकार शिल्पियों की अपेक्षा उसे दूसरे ही रूप देने का प्रयत्न किया। इसी लिये आज इस वैज्ञानिक युग में कला के सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ मची हुई है। जो काम शिल्पियों और व्यवहार कुशल पुरुषों के लिए सरल था, विद्वद्वर्ग के लिए वह झगड़े की चीज़ बन गया है। ऐसा क्यों हुआ ?

सत्य बात यह है कि आज आदर्शवादी पूर्व से व्यवहारकुशल पश्चिम का मिलन प्रारम्भ हुआ है। पूर्वी ढंग का मस्तिष्क रखने वाले पाश्चात्य विद्वान् भी कला के स्वाभाविक विकास में आदर्शवाद का रंग चढ़ाना चाहते हैं, इसीलिए कला के क्षेत्र में इस प्रकार का मतभेद देखने में आता है और एक नई समस्या कला के क्षेत्र में खड़ी हो गई है। पुराना पेशेवर कलाकार कभी उपदेशक नहीं था, न उस ने कभी ऊंचे दर्जे के आदर्श और विश्वबन्धुता के सिद्धान्तों का ही प्रचार किया। कला के क्षेत्र में साहित्य और संगीत के प्रवेश से मानो इस का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। स्वाभाविक गति पर चलने वाला कलाकार कहता है कि वह केवल कला के लिये ही जीता है, नैतिक उत्थान या पतन के साथ उस का कोई सम्बन्ध नहीं। इसी दल में फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी कलाकार सम्मिलित हैं। वे कला को उसी मार्ग से ले जाना चाहते हैं जिस से वह हजारों वर्षों से चली आ रही है। जैसा प्रकृति का स्वरूप है, जैसा बुरा-भला सामाजिक जीवन है और जैसी समस्यायें मानव-समाज के सामने हैं, ठीक उन का वैसा ही रूप वे साहित्य द्वारा संसार के सामने रखना चाहते हैं। उनकी जिम्मेदारी केवल यह है कि चित्र हू बहू हो, उस में कोई त्रुटि न आने पावे। इसके विपरीत आदर्शवादी यह कहता है कि हमारा कर्तव्य समाज को उन्नत करना है, उस की बुराइयों को दूर करना है और उस की समस्याओं को हल करना है। साहित्य आदर्श की पूर्ति का एक साधन है। वह कला ही क्या जो लोगों को सुधारे ही नहीं। लोगों का मन बहलाइए, लेकिन उस मन-बहलाव में उपदेश की सुरभि भरिए, बस यही समस्या है।

अब कला के साथ सुन्दर उपदेश को जोड़ना, यह एक नई समस्या कलाकार के सामने उपस्थित हो गई है। कलाकार यह तो मान सकता

है कि तमाशा अथवा कहानी या कविता ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को समाज के लिये निकम्मा न बना दे, उस का विकास न रोक दे, परन्तु यह बात वह स्वीकार नहीं करता कि अवश्य ही कलाकार को धर्माचार्य भी होना चाहिये। उस का यह मत है कि धर्माचार्य का मस्तिष्क पक्षपातपूर्ण होता है, वह एकांगी होता है, उस की आगे बढ़ने की शक्ति मारी जाती है क्योंकि सच्चरित्रता और धर्म विकास की चीज़ें नहीं हैं जो देश काल के अनुसार आगे बढ़ सकें, इसलिए इस के साथ कला को बांधना सर्वथा अनुचित होगा। कला का स्वरूप यह होना चाहिये कि जो शाब्दिक अथवा रंगीला चित्र खींचा जाये वह बिल्कुल ठीक और स्वाभाविक हो, उस में मनोविज्ञान की कोई त्रुटि न हो और मानवीय स्वभाव तथा सामाजिक जीवन का पूरा फोटो हो। यदि कलाकार को पहले से फर्ज़ की हुई कसौटियां अथवा आदर्शों के साथ जोड़ दें, तो वह कभी भी नई चीज़---कोई रचनात्मक कला---जगत् के सामने पेश नहीं कर सकता। उस की दशा वही होगी जो किसी साम्प्रदायिक विद्वान की होती है, जो अपने दिल में पहले से जमे हुए सिद्धान्तों के अनुसार शास्त्रों की व्याख्या करने लगता है। कलाकार को यथाशक्ति अपने इर्द-गिर्द के मज़हबी अथवा आदर्शवाद के सिद्धान्तों से बिल्कुल स्वतन्त्र रहना चाहिये। तभी वह संसार के ज्ञान की वृद्धि कर सकता है।

इतना कथन करने के बाद अब मैं कला की भिन्न-भिन्न विकसित अवस्थाओं को ब्योरेवार पाठकों के सामने रखता हूं। पहली अवस्था कला की व्यावहारिक है। मानवसमाज की प्रारम्भावस्था से ही कला का जन्म हुआ, जब समाज भिन्न भिन्न वर्गों में विभक्त था। अपने अपने वर्ग के चिन्ह लोगों ने निश्चित किये और उन्हें अपने तीरों, नावों और घरों पर बनाया। किसी ने मृग का रूप अपनाया तो किसी ने गिद्ध का, एक ने सिंह की शक्ल अपने डागे पर खींची तो दूसरे वर्ग ने हाथी को अपना प्यारा निशान माना। इस प्रकार पत्थर युग से लेकर खनिज पदार्थों के विकसित युग तक मनुष्य धीरे धीरे कला में उन्नति करता गया। ज्यों-ज्यों उन के सौन्दर्य का ज्ञान बढ़ा, त्यों त्यों भिन्न-भिन्न पेशेवर कलाकार अपना समुदाय बनाते गये। यह कला ही उन का धन्धा हो गया। स्त्री सौन्दर्य का केन्द्र है और मनुष्य उस की खूबसूरती को बढ़ाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के यत्न करता है उसी

उद्योग में उस ने प्राकृतिक पदार्थों को सुई द्वारा कपड़े पर चित्रित किया और उस से अपनी दुलहिन की पूजा की।

इसी युग में वीर लोग उत्पन्न हुए, जिन्होंने युद्ध की नई कला का आविष्कार किया और कलाकार वीरों को जितना सुन्दर, जितना अधिकरण-कुशल और जितना योग्य बना सकते थे उतना बनाया। रोटी के संग्राम में भिन्न भिन्न प्रकार के हुनरों की ईजाद हुई और इस प्रकार व्यावहारिक कला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हुआ।

इस के बाद आया देवी—देवताओं का युग। इसे हम काल्पनिक युग कहते हैं। इस युग में कला में श्रद्धा, अन्धविश्वास और मनमानी कल्पना ने स्थान पाया। प्रत्येक सम्प्रदाय में इस के कलाकारों की कल्पनाओं के चित्र आज हमारे सामने हैं। निश्चय ही इस युग में कला ने बड़ी उन्नति की है और बड़े बड़े प्रसिद्ध कलाकार इस युग के प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने कला द्वारा अमरत्वपद प्राप्त कर लिया है। ईसाई मजहब के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के पुराने गिर्जे इस कला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। माता मरियम और ईसा मसीह के सैकड़ों भिन्न-भिन चित्र उन के भक्त और कलाकारों के प्रगाढ़ प्रेम का प्रदर्शन करते हैं इसी युग के हजारों गद्य के ग्रन्थ भी कलाकार लेखकों की कीर्ति को उज्जवल करते हैं। इसी प्रकार हिन्दू और बौद्ध कलाकारों की बनाई हुई मूर्तियां इस युग के उदाहरण हैं। यह हृदयप्रधान युग है, मस्तिष्क को इस में कोई स्थान नहीं। भगवान् बुद्ध कैसे थे? हजरत ईसा मसीह का चेहरा बचपन में कैसा था? इन प्रश्नों का ठीक तरह से ही उत्तर कोई नहीं दे सकता। परन्तु कलाकारों ने ऊंची उड़ान भरकर उन के चित्र खींचे हैं। शब्दों में, रंगों द्वारा और पत्थरों पर। प्रसिद्ध वैज्ञानिक टिंडल के शब्दों में—यदि बैल और घोड़े को ईश्वर मानकर उस की तसवीर खींचेंगे, तो वे अच्छे से अच्छा बैल और अच्छे से अच्छा घोड़ा बना कर रख देंगे। भगवान् बुद्ध की मूर्तियों को देखिए। चीनियों ने उन का स्वरूप मंगोलियनों जैसा बनाया है और मध्य एशिया के लोगों ने अपने जैसा। जैसी जिस की सूझ हुई, वैसी ही उस ने अपने इष्टदेव की शक्ल बनाई। जिस काली की मूर्त्ति को मैं देखना भी पसन्द नहीं करता, जिस जगन्नाथ जी की मूर्त्ति मुझे इतनी ही वीभत्स मालूम होती है, जिस गणेश जी के सिर पर हाथी का सिर देख कर मैं लज्जा अनुभव करता हूँ, चित्र बनाने वाले कला-

कारों ने इन्हें इसी रूप में देखा था। मस्तिष्क से शून्य कला की यही अवस्था होती है। इस में सत्य के लिए ही कोई स्थान नहीं, मन-मानी कल्पना और अन्धविश्वास ही इस के शस्त्र हैं। मैं कला के इस युग का अधिक प्रशंसक नहीं हूं।

अब आता है तीसा युग जिसे मैं बोध-जन्य युग कहता हूँ। पौराणिक युग की यह प्रतिक्रिया है। इस युग के प्रवर्तक मार्टिन लूथर और स्वामी दयानन्द जैसे सुधारक हैं। इन लोगों ने रोमन कैथोलिक, बौद्ध और पौराणिक मस्तिष्क-शून्य कला का विरोध किया। इन्होंने यह कहा कि कला में भी ज्ञान को स्थान मिलना चाहिए। जो मानव समाज को उन्नत करे और उसे अंध-विश्वासों से निकाले। इसी का विकसित स्वरूप कला का आदर्शवाद है। इस युग में आदर्शवादी लेखक हुए, जो सच्चरित्रता और शिक्षा के विकट पक्षपाती थे। काल्पनिक युग की कला मानों उन के लिये विष थी। इसी कारण वे उस कला के अत्यन्त विरोधी हुए, ऐसे ही सुधारकों को हम विशुद्धतावादी (Puritans) कहते हैं, जिन्होंने काल्पनिक युग में फैली हुई कला की बुराइयों का घोर विरोध किया। वह अपनी छाप कला पर छोड़ गये और कला में आदर्शवाद ने प्रवेश किया। ऋषि टाल्सटाय और महात्मा गांधी इसी शैली के प्रवर्तक हैं, जो कला में अत्यन्त ऊंचे दर्जे की सच्चरित्रता को लाना चाहते हैं। और मानव-समाज का उत्थान ही जिन का लक्ष्य है।

चौथा युग है प्रकृतिवादियों का, जो जैसी चीज़ है वैसी ही चित्रित करना चाहते हैं। ये प्रकृति के उपासक हैं और बिलकुल उस की नकल करना चाहते हैं। मैं इस कला को (Imitative Art) कहता हूँ। और दूसरे लेखक (Realistic Art) कहते हैं। मेरे विचार में इस कला के उपासक प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी हैं। उन्हें अन्धविश्वास से कोई मतलब नहीं, वे झूठी कल्पना नहीं करते और न बेसिर-पैर की उड़ानें भरते हैं। उन का कोई मज़हब नहीं, न वे देवी-देवताओं के भक्त हैं, पीर-पैगम्बर उन के पास खड़े नहीं होने पाते और न वे समाज के माने हुए सच्चरित्रता के नियमों के पाबन्द हैं। वे कलाकार हैं उन में निरीक्षण की अद्भुत शक्ति है। प्रकृति ने उन्हें एक अलग इन्द्रिय दी है जिस के द्वारा वे प्राकृतिक और मानव-समाज के फूलों को सूंघ लेते हैं। उन का लक्ष्य है वस्तु का नंगा चित्र खींचना, जैसी

जो वस्तु है उसे वैसा ही दिखलाना । वे पहाड़ों पर घूमते हैं नदी-तट पर जाते हैं, बाग-बगीचों की सैर करते हैं और सौन्दर्य की खोज में संसार की खाक छानते हैं। जहां भी जो सुन्दर वस्तु उन्हें मिलती है, उसे वे अपनी कविता अथवा रंगों में भर लेते हैं। स्त्री-पुरुषों की नंगी तसवीरें खींचने में उन को लज्जा नहीं, और न समाज की अश्लील बातों पर उपन्यास लिखने में उन्हें कुछ संकोच ही है । समाज के उत्थान या पतन से उन का कोई सम्बन्ध नहीं । वे कलाकार हैं और कला के लिये ही जीते हैं ।

कला का पांचवां युग है रचनात्मक काल। इस युग का कलाकार अपने व्यक्तित्व को समझता है। वह इंजील के खुदा की तरह अपनी शक्ल का आदम बनाना चाहता है । वह ऐसी चीज़ चित्रित करने की इच्छा रखता है और जो उस की हो और संसार से भिन्न हो जिस पर कोई दूसरा कलाकार अपना हक न जमा सके। जैसे स्त्री और पुरुष मिल कर ऐसी सन्तान की रचना करते हैं जो उन की है और संसार से भिन्न है। उस सन्तान पर उन के व्यक्तित्व की छाप है और कोई भी दूसरा उस पर अपना हक नहीं जमा सकता। ठीक इसी प्रकार इस युग का कलाकार यही धुन रखता है कि मैं कुछ रचना करूं, जो मेरी हो......बस मेरी ही। यह तभी हो सकता है जब उसे आत्मा-नुभूति हो और उस के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास हो। जिस स्त्री या पुरुष ने अपने आप को दूसरे के व्यक्तित्व में मिला दिया, उस का व्यक्तित्व मिट गया। वह कभी भी नई चीज़ संसार को नहीं दे सकता। चौथे युग का कलाकार बेशक कलाकार है, लेकिन वह नकलची है, वह अभी उम्मीदवार है, कला करना सीखता है। वह कलाकार तभी हो सकेगा जब वह अपने आप को इस विश्व से पृथक् कर फिर विश्व का अध्ययन करना सीखेगा । उस दिन उस में उस की आत्मा की जागृति होगी और तभी वह नई रचना कर सकेगा ।

इसलिए रचनात्मक कला का प्रतिनिधि योरुप और एशिया के कलाकारों के विरुद्ध ही अपनी आवाज़ उठाता है। एशिया की कला अपने पौराणिक युग में है, जिस की व्याख्या करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र जैसे कलाकार उस का बचाव करते हुए कहते हैं——"एशिया की कला का सम्बन्ध हृदय की अनुभूति के साथ है, निरीक्षण के साथ नहीं।" इस का अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को अटपट पागलों की

तरह अनुभव करने लगे और वह कैसी ही मूर्त्ति खींच कर रख दे, तो वह भी एक प्रकार की कला ही मानी जायेगी। ऐसा ही हुआ भी है। आज भी बहुत से ऐसे मस्तिष्कशून्य देवी-देवताओं के चित्र, फरिश्तों की मूर्तियों और स्त्रियों के रंगीन चित्र हैं जिन का अस्तित्व मस्तिष्क कभी स्वीकार नहीं कर सकता। कलाकार भी पुराने पंडितों की तरह विचित्र हृदय की अनुभूति द्वारा कला करने वाले लोगों की कृतियों की व्याख्या करते हुए आपस में लड़ मरेंगे और जनसाधारण को अविद्यान्धकार में ढकेल देंगे। रचनात्मक कला का मानने वाला यह कहता है कि हृदय और मस्तिष्क का बराबर विकास हुए बिना सच्ची कला का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। जब मनुष्य विज्ञान की सहायता से मस्तिष्क को अन्ध-विश्वासों से अलग रखेगा, तब वह रोमन कैथोलिक, पौराणिक और बौद्धकालीन शिशु-कला को बच्चों का खेल समझ लेगा, जब उस के हृदय से मज़हबी पक्षपात बिल्कुल निकल जायेंगे और जब वह हृदय और मस्तिष्क की एकता कर अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता की स्थापना कर लेगा, तभी इस विश्व के पदार्थ उसे अपना सन्देश सुना सकेंगे।

निस्सन्देह दो प्रकार के जगत् हैं—बाह्य और आभ्यन्तरिक, किन्तु बाह्य जगत् के बिना आभ्यन्तरिक जगत् की रचना नहीं की जा सकती। जो बाह्य जगत् का बुद्धिपूर्वक अध्ययन कर सकता है, उसी का आभ्यन्तरिक जगत् भी निर्दोष हो सकता है। यह बात ग़लत है कि मिट्टी में लथ-पथ रहने वाला, गन्दी से गन्दी चीज़ खा लेने वाला और आवारा घूमने वाला अघोरी आभ्यन्तरिक जगत् को भली प्रकार देख सकता है। समाज में फैले हुए इन झूठे सिद्धान्तों का मैं घोर विरोधी हूँ। इसी कारण एशिया की उन्नति रुक गई और ऐसे ही भ्रांति-पूर्ण सिद्धान्तों के मानने से आज भारतवर्ष के लोग अपनी बेहूदा मूर्तियों का पीछा न छोड़ सके। मस्तिष्क-शून्य हृदय की अनुभूति एक ऐसी भ्रमात्मक उक्ति है जिस की लीला भारत के बड़े ग्रेजुएट और दिग्गज पण्डित भी आज तक नहीं जान सके। हृदय की अनुभूति के साथ मस्तिष्क का विकास लाज़मी है। दोनों साथ-साथ चलने चाहियें, तभी निर्दोष कला का स्वरूप संसार के सामने आ सकेगा और सौन्दर्य की महिमा हम समझ सकेंगे।

यह बात ठीक नहीं है कि पश्चिम की कला में हृदय की ज्योति की झलक नहीं दिखलाई देती। राजनैतिक क्षेत्र को छोड़कर बाकी

सब विभागों में पाश्चात्य देशों के विद्वान् बड़ी सचाई और ईमानदारी से सत्य की खोज करते हैं। जब उन्हें अपनी भूल स्पष्ट मालूम हो जाती है तब वे उसे बड़ी उदारता से स्वीकार कर आगे बढ़ने के लिये कमर कसते हैं। उन की उदारता का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि उन के बड़े-बड़े लब्धप्रतिष्ठ धर्माचार्यों ने महात्मा गांधी जी को एक दूसरा ईसा मसीह स्वीकार किया है। एशिया के लोगों में ऐसी विशालहृदयता कहां? क्या हिन्दू लोग कभी किसी अच्छे से अच्छे योरुपीय को भगवान् कृष्णचन्द्र या मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान मान लेंगे? क्या मुसलमान किसी श्रेष्ठतम चरित्र वाले पाश्चात्य महापुरुष को हज़रत मुहम्मद जैसा मान सकते हैं? क्या बौद्ध लोग किसी भी पश्चिमी सच्चरित्र विद्वान् को भगवान् बुद्ध की तरह मानकर उस का आदर करने को तैयार हैं? कदापि नहीं। एशिया के लोगों में इस सम्बन्ध में विनय और उदारता की अत्यन्त कमी है, इसी लिए संसार की दौड़ में वे पीछे रह गये हैं। कला में भी उन की यही अवस्था है। अपनी भोंडी कला को दोष-युक्त न मानकर वे हृदय की 'अनुभूति' की आड़ में उनकी उलटी सीधी व्यवस्था करने बैठ जाते हैं और अपनी कलाशून्य मूर्त्तियों तथा चित्रों में कोई न कोई विशेषता निकालने की भरपूर कोशिश करते हैं। पश्चिम के चित्रकार अपने मनोविज्ञान की सहायता से अपनी कला को बहुत आगे बढ़ा रहे हैं और पूर्व अपनी पुरानी दकियानूसी और भोंडी कला की आध्यात्मिक व्याख्या करने में लगा हुआ है। वह यह समझता है कि अपनी भूल मान लेने से शायद उस का गौरव कम हो जायगा। वह अपने अध्यात्मावाद के घमण्ड में अपनी कला की स्पष्ट भूलों को भी देखना नहीं चाहता और पुराने पण्डितों की तरह वेद के मंत्रों से ही सभी अच्छी-अच्छी बातें निकाल कर अपनी कीर्ति स्थापित करना चाहता है। इसी बीमारी के कारण आज हम कला के यथार्थ स्वरूप को भी नहीं पहचान रहे हैं। विज्ञान ही संसार का भविष्य बनायगा और उसी का सहारा लेने से विश्व की कला के रहस्यों का उद्घाटन होगा। हमें अपनी आत्मा में स्वतंत्रा की दामिनी की स्थापना करनी चाहिये और अपने नेत्रों में विज्ञान का प्रकाश लाना चाहिये। जब तक हम इन दो साधनों को नहीं अपनायेंगे तो हमें कदापि बाह्य और आभ्यन्तरिक जगत् के गूढ़ रहस्यों का पता नहीं लगेगा।

****

स्वामी जी की कलम से

साहित्य-परिचय

सन् १६११ में मैं अमरीका से लौटा था। यह जौलाई मास था। मैं अमरीका स्वतन्त्रता की खोज के लिए गया था, क्योंकि महर्षि दयानन्द सरस्वती और इटली के महान् देशभक्त मैजिनी ने मुझे देशभक्ति और राष्ट्र-धर्म की शिक्षा दी थी। उन की शिक्षा से ओत-प्रोत मैं अमरीका जाकर पहिले विश्वविद्यालयों में पढ़ा और बाद में २,३०० मील पैदल घूम कर स्वतन्त्रता देवी के साक्षात् दर्शन किए। वहां से अपने देश को स्वाधीन करने के लिए पूरी सामग्री ले कर मैं भारत लौटा। इस संघर्ष में मेरे पांच वर्ष व्यय हुए।

जब मैं भारतवर्ष लौट कर आया तो स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुझ से व्यंग्य पूर्वक यह पूछा "सत्यदेव क्या करोगे?" मैं ने मुस्करा कर उत्तर दिया "हिन्दी की पुस्तकें लिखूंगा।" स्वामी जी ने मेरा उपहास कर कहा "हिन्दी की पुस्तकें कौन खरीदेगा, तुम भूखे मर जाओगे।"

उन का कहना सत्य था। उस समय देश में अंग्रेज़ी की तूती बोलती थी। और उर्दू भाषा तथा लिपि उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा अन्य प्रान्तों में प्रधानता पाए हुए थी, लेकिन मैं आया था देश को स्वाधीनता सिखाने। इस लिए मेरे वास्ते कोई दूसरा विकल्प नहीं था—हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखना और व्याख्यानों द्वारा उन्हें बेचना। मैं बोलने और लिखने की कला में बड़ा निपुण हो कर आया था। अमरीका के विश्वविद्यालयों में मैं ने इन दो विषयों को पढ़ा था और ईश्वर की मुझ पर कृपा भी थी।

मैं ने कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया, पच्चहत्तर रुपए कर्ज़ ले कर मैं ने १६११ में अपनी पहली पुस्तक "अमरीका पथप्रदर्शक" अर्थात् १५ रुपए लेकर अमरीका कैसे पहुंचा, लिखी। इस पुस्तक की देश के समाचार-पत्रों में भूरी-भूरी प्रशंसा भी हुई। कलकत्ते की अंग्रेज़ी

मासिक पत्रिका में किसी एम० एस० सज्जन ने उस पुस्तक को बड़ा सराहा, परिणामस्वरूप यह पुस्तक हाथों हाथ बिक गई । पंजाब के किसी चालक व्यक्ति ने उस का उर्दू अनुवाद छपवाकर हज़ारों रुपए कमा लिए ।

"सत्यग्रन्थ"....माला नामक मेरे कार्यालय से पुस्तकें धड़ल्ले से निकलनी प्रारम्भ हुईं, उसी वर्ष "अमरीका—दिग्दर्शन", "जातीय शिक्षा", "मनुष्य के अधिकार", "अमरीका के निर्धन विद्यार्थियों के परिश्रम", यह पुस्तकें शरद ऋतु में प्रकाशित करवाईं ।

एक छोटा सा ट्रैक्ट—"उन्नति का द्वार"—सन् १९०५ के फरवरी मास में, जब मैं अमरीका जाने की तैयारी कर रहा था, बम्बई में छपवाया गया। हिन्दी में यह मेरी पहली छोटी पुस्तक थी जो मेरे नाम से छपी। इस के बाद मैं अमरीका चला गया। जब मैं वहां से लौट कर आया तो अपना आज़ादी का सन्देश देशवासियों को सुनाने के लिए मैं ने ऊपर के ग्रन्थ लिखे।

"अमरीका दिग्दर्शन".—पहले सन् १९११ में छपा। फिर जब मेरा कार्यालय इलाहाबाद में आ गया तो वहां से उस के कई संस्करण छपे। इसी प्रकार "अमरीका के निर्धन विद्यार्थी" नामक मेरी पुस्तक की हज़ारों प्रतियां प्रकाशित हुई और सन् १९५८ में उस का नया संस्करण "अमरीका के स्वावलम्बी विद्यार्थी" के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार "मनुष्य के अधिकार'—जो पहले काशी से छपा था, फिर दो तीन बार प्रयाग से छपवाया गया। "अमरीका दिग्दर्शन" नए सिरे से ज्वालापुर के सत्यज्ञान निकेतन से "नई दुनिया के मेरे अद्भुत सन्स्मरण" के नाम से छपा था। अब "अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी" अमरीका-सम्बन्धी मेरे सारे रोचक और शिक्षा संस्मरणों को देहली के न्यू इण्डिया प्रैस में सुन्दर सजिल्द ५०८ पृष्ठों में सन् १९५८ में छपवाया गया है। जातीय शिक्षा, राष्ट्र संध्या के न जाने कितने संस्करण छपे थे। "राष्ट्र संध्या"—तो डेढ़ लाख छप चुकी होगी। यह कानपुर, इलाहाबाद और ज्वालापुर के मेरे कार्यालयों से बार बार प्रकाशित हुई है।

"हिन्दी का सन्देश". नामक ट्रैक्ट, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इस के भी कई संस्करण निकले। सन् १९१४ में इस का दूसरा संस्करण तीन हज़ार छपा था। इस के बाद भी इस के कई संस्करण हुए। "वेदान्त का

विजय मन्त्र" सन् १९१७ में छपा जब महात्मा गान्धी जी देश में आ चुके थे। यह पुस्तिका अध्यात्मवाद का प्रचार करती है।

"मनुष्य के अधिकार"—नामक मेरी पुस्तक सन् १९२२ में पहलीबार काशी से प्रकाशित हुई थी। इस के बाद उस के कई संस्करण हुए। क्रान्तिकारियों में यह पुस्तक खूब पढ़ी जाती थी। और उन के किसी एक मुकदमे में सरकारी वकील ने मेरी पुस्तक का हवाला देकर इसे सरकार के विरुद्ध ठहराने का प्रयत्न किया था। इस पुस्तक को अब आगरे वाले प्रकाशक छपवा कर खूब धन कमा रहे हैं।

"लेखन कला".—मेरी यह पुस्तक सन् १९१६ में छपी थी। इस के बाद सन् १९२६ में मैं ने उस का परिवर्द्धित संस्करण ज्वालापुर से प्रकाशित करवाया। इस पुस्तक को भी दूसरे प्रकाशकों ने छपवाकर खूब धन बटोरा है। यह बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तक है।

"संजीवनी बूटी"—नामक मेरी पुस्तक पहले सन् १९१५ में छपी थी। बाद में इस के कई संस्करण हुए और अब इस का नया संस्करण मैं ने नई दिल्ली से छपवा कर इसे अत्यन्त उपयोगी बना दिया है।

"राजर्षि भीष्म"—नामक मेरी पुस्तक सन् १९१६ में दूसरी बार छपी। जब स्वर्गीय बा० श्यामसुन्दर दास जी सरस्वती के सम्पादक थे तब यह लेखमाला राजर्षि भीष्म के नाम से सरस्वती पत्रिका में छपी थी। बाद में मैं ने अमरीका से लौट कर इसे पुस्तकाकार में छपवा दिया।

"मेरी कैलाश यात्रा".—सन् १९१६ में यह पुस्तक इलाहाबाद के ओंकार प्रेस से चार हजार प्रतियां छापी गई थी। इस का भी खूब प्रचार हुआ है और ज्वालापुर के मेरे सत्यज्ञान-निकेतन की ओर से इसका सुन्दर नया संस्करण छप गया था जो कई वर्षों तक बिक चुका है।

"संगठन का बिगुल".—मेरा यह ग्रन्थ पहले पहल सन् १९२२ में तीन संस्करणों में बारह हजार छपा था, फिर सन् १९२६ में मैं ने उसकी बीस हजार प्रतियां छपवाई थीं। यह मेरा अत्यन्त लोक-प्रिय ग्रन्थ है। खूब बिका है। अंग्रेजी में इस का अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हुआ।

"श्री बुद्धगीता".—यह मेरा प्यारा ग्रन्थ सन् १९१९ में छपा था। जब मैं ने भगवान् बुद्ध के जगत् विख्यात ग्रन्थ "धर्मपद" का अनुवाद भी बुद्ध गीता के नाम से प्रसिद्ध करवाया था तो बौद्ध जगत् में इस की बड़ी प्रसिद्धि हुई थी। बाद में मैं इसे कई कारणों से न छपवा सका।

"हमारी सदियों की गुलामी".—के कारणों—यह मेरी पुस्तक गया कांग्रेस के अधिवेशन पर सन् १९२२ में छपी थी जिस में मैं ने देश की गुलामी के कारणों पर प्रकाश डाला था और इसे मुफ्त बटवाया था।

"अनुभूतियां"—मेरी कविता की पुस्तक का परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण सन् १९५८ में प्रकाशित हुआ है। पहले यह अनुभव के नाम से सन् १९३३ में छपी थी। पर उस समय प्रत्येक कविता की पृष्टभूमि नहीं लिखी गई थी। नए संस्करण को अत्यन्त उपयोगी बना कर छपवाया गया है।

"देव चतुर्दशी"—मेरी चौदह कहानियों का संग्रह पहले पहल यह सन् १९३३ में छपी थी। इस के बाद सन् १९३७ में इस का संशोधित संस्करण छपवाया गया था।

"हिन्दुधर्म की विशेषताएं".—मैं ने इस पुस्तक को अपने सत्यज्ञान निकेतन से पहली बार प्रकाशित करवाया था। लोगों ने इसे बड़ा पसन्द किया था। सन् १९२६ में इस का प्रथम संस्करण हाथों हाथ बिक गया। इस पुस्तक को धार्मिक लोगों ने अपनी परीक्षाओं में रख कर इस के आदर को बढ़ाया है और मैं ने इस का कोपी राइट "राज्यपाल एण्ड सन्स" को दे दिया है।

"भारतीय समाजवाद की रूप रेखा",—यह मेरी छोटी सी पुस्तक १९३९ में छपी थी। इस में मैं ने अपनी संस्कृति के अनुसार समाजवाद का रूप दिखलाया है।

"सत्य बिन्धावली".—नामक मेरी निबन्ध पुस्तक इलाहाबाद से सन् १९१४ में छपी थी। इस के बाद उसी पुस्तक को कलकत्ते के किसी पुस्तक-विक्रेता ने मुझ से बिना पूछे छपवा लिया। इसी प्रकार मेरा 'अमरीका भ्रमण' भी वहीं के किसी प्रकाशक ने बिना सूचना दिए उसे छपवा लिया। अब मेरी नई पुस्तक "अमरीका प्रवास की मेरी

अद्भुत कहानी" में मेरी अमरीका-सम्बन्धी सारी सामग्री आद्योपान्त आ गई है।

"मेरी जर्मन यात्रा".—नामक मेरा ग्रन्थ सन् १६२४ में पहली बार छपा था। इस के बाद इस का दूसरा संस्करण भो हुआ था।

"योरोप की सुखद स्मृतियां"—नामक मेरा ग्रन्थ सन् १६३६ में छपा और शीघ्र बिक गया उसे मैं दोबारा नहीं छपवा सका।

"यात्री मित्र"—यह ग्रन्थ सन् १६३६ में गुरुकुल कांगड़ी प्रेस से छपा। यह भी बिक बिका गया और इसे मैं नहीं छपवा सका।

"स्वतन्त्रता की खोज में" (मेरी आत्मकथा)—सन् १६५२ में यह पुस्तक छपी तो शीघ्र बिक गई। इसे भी मैं नहीं छपवा सका।

"विचार स्वातन्त्र्य के प्रांगण में"—मेरी अत्यन्त रोचक पुस्तक १६५२ के अन्त में प्रकाशित हुई है।

"पाकिस्तान एक मृग तृष्णा"—नामक यह पुस्तक सन् १६५४ में प्रकाशित करवाई गई है।

"अनन्त की ओर"—मेरी अत्यन्त प्रसिद्ध अध्यात्मवाद की पुस्तक है जो सन् १६५८ में अलीगढ़ में छपी है।

"ज्ञान के उद्यान में"—मेरी यह पुस्तक ६० अत्यन्त शिक्षा-प्रद निबन्धों से विभूषित है। यह सन् १६५४ में छपी है।

"लहसुन बादशाह"—मेरा अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो खूब बिकता है। यह भी सन् १६५१ में छपा है।

****

४०६८ डी पी आर—२०००—२५-३-५६—नियंत्रक, पं० रा० मु०, चंडीगढ़